इकाई 1 साहित्य और इतिहास का अंतः संबंध

इकाई की रूपरेखा

1.0 उद्देश्य
1.1 प्रस्तावना
1.2 इतिहास और साहित्य का इतिहास
  1.2.1 इतिहास
  1.2.2 साहित्य का इतिहास
1.3 साहित्येतिहास लेखन के विभिन्न पक्ष
  1.3.1 सामग्री संकलन
  1.3.2 कालविभाजन और नामकरण
  1.3.3 मूल्यांकन
1.4 साहित्येतिहास लेखन की विभिन्न पद्धतियाँ
  1.4.1 वर्णानुक्रमी पद्धति
  1.4.2 कालानुक्रमी पद्धति
  1.4.3 वैज्ञानिक पद्धति
  1.4.4 विधेयवादी पद्धति
  1.4.5 समाजशास्त्रीय पद्धति
1.5 हिन्दी साहित्येतिहास लेखन की परंपरा
  1.5.1 इतिहास-लेखन के आरंभिक प्रयत्न
  1.5.2 आचार्य रामचंद्र शुक्ल और इतिहास-लेखन
  1.5.3 आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी और इतिहास-लेखन
  1.5.4 परवर्ती इतिहासकार और इतिहास-लेखन
1.6 हिन्दी साहित्येतिहास लेखन की समस्याएँ
  1.6.1 रचनाओं और रचनाकारों का समावेश
  1.6.2 हिंदी साहित्य का आरंभ
  1.6.3 अन्य समस्याएँ
1.7 सारांश
1.8 शब्दावली
1.9 उपयोगी पुस्तकें
1.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

1.0 उद्देश्य

हिन्दी साहित्य के इतिहास पाठ्यक्रम के प्रथम खंड की यह पहली इकाई है। इस इकाई में साहित्य और इतिहास के संबंध पर प्रकाश डाला गया है और हिन्दी साहित्य के इतिहास के लेखन पर विचार किया गया है। इसे पढ़ने के बाद आप:

- इतिहास और हिन्दी साहित्य के इतिहास का स्वरूप स्पष्ट कर सकेंगे,
- साहित्येतिहास लेखन के विभिन्न पक्षों को रेखांकित कर सकेंगे,
- साहित्येतिहास लेखन की विभिन्न पद्धतियों का मूल्यांकन कर सकेंगे,
- हिन्दी साहित्येतिहास लेखन की परंपरा पर प्रकाश डाल सकेंगे, और
- हिन्दी साहित्येतिहास लेखन की विभिन्न समस्याओं को समझा सकेंगे।

1.1 प्रस्तावना

हिन्दी ऐच्छिक पाठ्यक्रम-03 के अंतर्गत यह पहली इकाई है। इसमें साहित्य और इतिहास के पारस्परिक संबंध को स्पष्ट किया गया है।

किसी भी साहित्य के सम्यक मूल्यांकन में इतिहास की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। दूसरे शब्दों में, इतिहास की जानकारी के बिना साहित्य के क्रमिक विकास को समझा ही नहीं जा सकता है। इतिहास की मदद से साहित्य की विभिन्न रचनाओं, परंपराओं और प्रवृत्तियों का विश्लेषण होता है। मसलन, हिन्दी साहित्य की सम्यक जानकारी के लिए हिन्दी साहित्य की प्रेरक शक्ति और बदलती हुई प्रवृत्तियों को समझने में भी इतिहास की सहायता लेनी पड़ती है।

एक सवाल आपके मन में उठ सकता है कि इतिहास क्या है? हम किस इतिहास की बात कर रहे हैं? एक इतिहास वह होता है, जिसमें देश की राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक स्थिति की बात की जाती है और एक इतिहास वह होता है जिसका सीधा संबंध साहित्य से होता है। मोटे तौर पर इसे हम सामान्य इतिहास और साहित्य का इतिहास कह सकते हैं। सामान्य इतिहास में जहाँ अतीत में घटित राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक गतिविधियों का विश्लेषण करते हैं, वहीं साहित्य के इतिहास में साहित्य विशेष का क्रमिक विकास दिखाते हैं। पर साहित्य विशेष का इतिहास प्रस्तुत करते समय हम सामान्य इतिहास की भी मदद लेते हैं, क्योंकि साहित्य समाज से निरपेक्ष नहीं होता है।

इतिहास न केवल अतीत से हमें परिचित कराता है, बल्कि वर्तमान के परिप्रेक्ष्य में अतीत का मूल्यांकन भी करता है। इतिहास घटनाओं का पुंज नहीं है; साहित्य का इतिहास रचनाओं या रचनाकारों की विवरणिका नहीं है, यह पूरी परंपरा और प्रवृत्ति को समझने का एक माध्यम है। इस बात को समझने के लिए विभिन्न इतिहास लेखन पद्धतियों पर इस इकाई में विस्तार से विचार किया गया है।

हिन्दी साहित्य में साहित्येतिहास लेखन की परंपरा बहुत पुरानी नहीं है, पर गार्सा-द-तासी से लेकर रामविलास शर्मा तक इसका निरंतर विकास हुआ है। "हिन्दी साहित्येतिहास लेखन की परंपरा" में इसी पक्ष पर प्रकाश डाला गया है। साहित्य का इतिहास लिखते समय इतिहासकार सामग्री का संकलन करता है, समग्र इतिहास को विभिन्न काल खंडों में बाँटता है और उसका नामकरण करता है। अन्त में वह विभिन्न प्रवृत्तियों का मूल्यांकन भी करता है। इस क्रम में उसके सामने कई कठिनाइयाँ आती हैं, मसलन किस साहित्य और साहित्यकारों को आधार के रूप में ग्रहण किया जाए, हिन्दी साहित्य का आरंभ कब से माना जाए, हिन्दी से क्या तात्पर्य है, गौण साहित्यकारों का साहित्य में क्या महत्व है आदि। इन सब सवालों पर भी, इस इकाई में संक्षेप में, विचार किया जाएगा।

1.2 इतिहास और साहित्य का इतिहास

1.2.1 इतिहास

इतिहास का संबंध अतीत की वास्तविक और यथार्थ घटनाओं से है। इसमें किसी भी तथ्य, तत्व और प्रवृत्ति का वर्णन, विवेचन और विश्लेषण कालक्रम की दृष्टि से किया जाता है। इतिहास में घटनाएँ होती हैं, तथ्य होते हैं, पर यह अपने आप में इतिहास नहीं है। यह इतिहास का साधन मात्र है। इतिहास में इन तथ्यों और घटनाओं के आधार पर युग विशेष का मूल्यांकन किया जाता है। इतिहास हमें कुछ घटनाओं से परिचित अवश्य कराता है, पर महत्वपूर्ण बात यह है कि हम उन घटनाओं की व्याख्या किस ढंग से करते हैं, हम कौन सी दृष्टि अपनाते हैं। वस्तुतः इतिहास तथ्य और दृष्टिकोण, अनुसंधान और व्याख्या का सामंजस्य प्रस्तुत करता है। इतिहासकार तथ्यों का संकलन करता है और अपने तथा अपने युग के दृष्टिकोण के अनुरूप उनकी व्याख्या करता है। वह नये-नये तथ्यों की खोज करता है, पुराने तथ्यों की व्याख्या करता है और इस प्रकार शोध और व्याख्या में क्रिया-प्रतिक्रिया संबंध बराबर बना रहता है।

इतिहास न केवल अतीत के बारे में हमें बताता है बल्कि वर्तमान के परिप्रेक्ष्य में उसका पुर्नमूल्यांकन करता है और इसके साथ ही साथ भविष्य की कल्पना करता है। इस प्रकार इतिहास, वर्तमान और भविष्य में एक संबंध स्थापित करता है। दूसरे शब्दों में इतिहास अतीत और वर्तमान का संवाद है और इस रूप में इतिहास मात्र बीते हुए दिन की वस्तु न बनकर आज के लिए भी अपनी प्रासंगिकता सिद्ध करता है।

1.2.2 साहित्य का इतिहास

साहित्य के इतिहास में साहित्य की विकासमान परंपरा, उसके उद्‌भव से आज तक की स्थिति का क्रमबद्ध अध्ययन किया जाता है। इस संदर्भ में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के इतिहास संबंधी दृष्टिकोण का उल्लेख उपयोगी होगा: "जबकि प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ की जनता की चित्तवृत्ति का संचित प्रतिबिंब होता है तब यह निश्चय है कि जनता की चित्तवृत्ति के परिवर्तन के साथ-साथ साहित्य के स्वरूप में भी परिवर्तन होता चला जाता है। आदि से अंत तक इन्हीं चित्तवृत्तियों की परंपरा को परखते हुए साहित्य परपंरा के साथ उनका सामंजस्य दिखाना 'साहित्य का इतिहास' कहलाता है।"

साहित्य का इतिहास अतीत में लिखे गये साहित्य या साहित्यकार का ब्यौरा मात्र नहीं है। जिस प्रकार इतिहास आज राजाओं के जीवन-चरित्र एवं राजनीतिक घटनाओं का संकलन मात्र नहीं है, उसी प्रकार साहित्य का इतिहास मात्र रचनाओं और रचयिताओं का परिचय-ग्रंथ नहीं है। किसी भी साहित्य के इतिहास को समझने के लिए उससे संबंधित जातीय परंपराओं, राष्ट्रीय और सामाजिक स्थिति एवं सामाजिक परिस्थितियों का विवेचन-विश्लेषण जरूरी है। इसका कारण यह है कि किसी भी देश का साहित्य उस देश के सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक वातावरण को प्रतिबिंबित करता है। साहित्य की प्रवृत्तियाँ समाज की प्रवृत्तियों का प्रतिबिंब होती हैं। साहित्य का इतिहास व्यक्ति-विशेष की उपलब्धियों के साथ-साथ इन प्रवृत्तियों का भी विश्लेषण करता है।

साहित्य का इतिहास क्या है और इसे कैसा होना चाहिए, इस संबंध में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का मत प्रस्तुत है। "साहित्य का इतिहास ग्रंथों और ग्रंथकारों के उद्‌भव और विलय की कहानी नहीं। वह कालस्रोत में बहे आते हुए जीवंत समाज की विकास कथा है। ग्रंथकार और ग्रंथ उस प्राणधारा की ओर सिर्फ इशारा करते हैं। वे ही मुख्य नहीं है। मुख्य है वह प्राणधारा, जो नाना परिस्थितियों से गुजरती हुई आज हमारे भीतर अपने-आपको प्रकाशित कर रही हैं। "साहित्य के इतिहास में हम अपने-आपको पढ़ने का सूत्र पाते हैं।"[1]

वस्तुतः साहित्य की प्रगति, परंपरा, निरंतरता और विकास को पहचानना ही साहित्य के इतिहास का प्रयोजन है। इसके अतिरिक्त यह परिवर्तन और निरंतरता को भी व्याख्यायित करता है। साहित्येतिहास साहित्य की विकासशील प्रक्रिया का उद्‌घाटन करता है और इस क्रम में नये और पुराने के संघर्ष को भी रेखांकित करता चलता है। इसके अतिरिक्त इसमें विभिन्न आंदोलनों, परिवर्तनों और नवीन प्रयोगों के संबंध का भी विवेचन होता है।

साहित्येतिहास के संदर्भ में महत्वपूर्ण बात यह है कि इसमें भी अन्य इतिहासों की तरह वर्तमान परिप्रेक्ष्य में अतीत का मूल्यांकन किया जाता है। इतिहास के बारे में पढ़ते हुए आप जान चुके हैं कि यह मूलतः मूलयांकनपरक होता है। यह मूल्यांकन ही उसे वर्तमान के लिए उपयोगी और प्रासंगिक बनाता है। साहित्येतिहास पर भी यह बात लागू होती है। अतः साहित्य के इतिहास-लेखन में अतीत को ठीक से परखने और समझने के लिए वर्तमान की सही समझ जरूरी है। वर्तमान से कटी हुई इतिहास चेतना न तो अतीत को समझ पाती है न ही वर्तमान को।

साहित्य के इतिहास में कृतियों का मूल्याकन भी किया जाता है। उसके विचार पक्ष और कला पक्ष पर विचार किया जाता है। पर साहित्य का इतिहास केवल रूप और वस्तु का इतिहास नहीं होता, वह रचना में व्यक्त रचनाकार की सृजनशील चेतना का भी इतिहास होता है।

साहित्येतिहास में विचार प्रक्रिया और सुसंगत दृष्टिकोण का विशेष महत्व है। ऐसी विचार प्रक्रिया, जिसमें प्रत्येक परिवर्तन की व्याख्या हो, किसी भी साहित्येतिहास को समग्रता में प्रस्तुत करने में सक्षम होती है। समग्र साहित्य के इतिहास में एक ओर जनता की चित्तवृत्ति, प्ररम्परा, नये-पुराने के संघर्ष का मूल्यांकन होता है तो दूसरी ओर रचना और रचनाकार की सृजनात्मक क्षमता को भी वर्तमान की कसौटी पर कसा जाता है।

इस प्रकार साहित्य के इतिहास में समाज की विकास-कथा तो होती ही है, साथ ही साथ

1 इतिहास का सत्य (हमारी साहित्यिक समस्याएं), पृ. 206

उसमें कला-पक्ष का भी मूल्यांकन होता है। वह मानव-चिंताधारा के विकास-क्रम को निरूपित करने के साथ-साथ अभिव्यंजना शिल्प के क्रमिक विकास को भी दर्शाता है। उसमें युग विशेष के व्यक्तित्व का उद्‌घाटन होता है। उसमें जहाँ एक ओर जातीय जीवन की प्रामाणिक झांकी देखने को मिलती है, वहाँ दूसरी ओर साहित्यिक मूल्यों का मूल्यांकन भी होता है। यह एक मिली-जुली विधा है जिसमें शोध, इतिहास, समीक्षा सबके तत्व सम्मिलित होते हैं।

बोध प्रश्न

1 "इतिहास" से आप क्या समझते हैं?
(सही उत्तर के सामने (✓) का चिह्न लगाएँ)

क) इतिहास अतीत की परम्परा और प्रवृत्ति का वर्तमान के संदर्भ में मूल्यांकन करता है ( )

ख) इतिहास में घटनाओं का सबसे ज्यादा महत्व है ( )

ग) इतिहास को वर्तमान से जोड़ना ठीक नहीं है। ( )

घ) इतिहास अतीत का ब्यौरा मात्र प्रस्तुत करता है। ( )

2) निम्नलिखित कथनों में से कौन-से कथन सही और कौन-से गलत हैं?
(सहीं कथन के आगे (✓) का और गलत के आगे (✗) का चिह्न लगायें)

क) आचार्य रामचन्द्र शुक्ल इतिहास लेखन में परंपरा पर विशेष बल देते हैं। ( )

ख) आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इतिहास लेखन में परम्परा को विशेष महत्व प्रदान किया है। ( )

ग) आचार्य शुक्ल साहित्य को जनता की चित्तवृत्ति का प्रतिबिंब मानते हैं ( )

3) साहित्य के इतिहास का प्रयोजन क्या है? (पाँच पंक्तियों में उत्तर दें)

.....

.....

.....

.....

.....

1.3 साहित्येतिहास लेखन के विभिन्न पक्ष

आप जान चुके हैं कि साहित्य का इतिहास साहित्य की विकासमान परम्परा को उद्‌घाटित करता है। वह साहित्य के विकास को रेखांकित करने के साथ-साथ उसका मूल्यांकन भी करता चलता है। किसी भी साहित्य का इतिहास लिखते समय इतिहासकार को कई चरणों से गुजरना पड़ता है। पहले वह स्रोत-सामग्री का संकलन करता है। इस क्रम में वह विशिष्ट रचनाकारों और रचनाओं की पहचान करता है। परम्परा के वैज्ञानिक अनुशीलन के लिए वह काल विभाजन और नामकरण की समस्या पर विचार करता है। इसके लिए वह विभिन्न प्रवृत्तियों की खोज और विश्लेषण करता है। इसके बाद वह युग-विशेष और प्रवृत्ति के अंतः संबंध का विश्लेषण करता हुआ वर्तमान संदर्भ में उनका मूल्यांकन भी करता है। इस प्रयास में उसे कई प्रयत्न करने पड़ते हैं। वह इतिहास लिखते समय कई चरणों से गुजरता है। इस संबंध में हम आगे विचार करने जा रहे हैं।

1.3.1 सामग्री संकलन

सामग्री संकलन इतिहास लेखन की पूर्वपीठिका के रूप में काम करता है। यह सही है कि तथ्य अपने आप में इतिहास नहीं होता, पर तथ्य आधारभूत स्रोत का काम तो करते ही हैं। इतिहासकार के सामने तथ्य जटाने के साथ-साथ तथ्यों के चुनाव की समस्या भी रहती

है। तथ्यों की खोज के क्रम में वह पुराने साहित्य और साहित्यकार संबंधी अनुसंधानों, कृतियों के प्रामाणिक और सुसंगठित संस्करणों, आकर ग्रन्थ सूची, उपलब्ध पत्र-पत्रिकाओं की फाइलों, शिष्ट और लोक साहित्य की समुचित विवरणी और सामाजिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक स्थितियों के प्रामाणिक इतिहास-ग्रन्थों से गुजरता है। इस आधारभूत सामग्री के अभाव में ऐतिहासिक बोध के बावजूद इतिहास त्रुटिपूर्ण हो सकता है। अपूर्ण अथवा त्रुटिपूर्ण सामग्री के आधार पर निर्दोष इतिहास लेखन सम्भव नहीं है।

1.3.2 कालविभाजन और नामकरण

सामग्री संकलन के बाद इतिहासकार पूरे इतिहास को विभिन्न कालों और युगों में विभाजित करने का प्रयत्न करता है। यद्यपि काल का प्रवाह अविच्छिन्न है और भूत, वर्तमान तथा भविष्य परस्पर एक दूसरे में अनुस्यूत रहते हैं, पर अध्ययन की सुविधा के लिए काल विभाजन और नामकरण आवश्यक होता है। यह सही है कि काल-प्रवाह अविच्छिन्न होता है, पर यह सतत परिवर्तनशील भी होता है। इसलिए साहित्य इतिहास में ही नहीं, अन्य प्रकार के इतिहासों में भी युग-विभाजन को अनिवार्य माना जाता है। काल विभाजन का लक्ष्य अंततः इतिहास की विभिन्न परिस्थितियों के संदर्भ में उसकी घटनाओं एवं प्रवृत्तियों के विकासक्रम को स्पष्ट करना होता है। साहित्येतिहास पर भी यह बात लागू होती है। साहित्य की अन्तर्निहित चेतना के क्रमिक विकास, उसकी परम्पराओं के उत्थान-पतन एवं उसकी विभिन्न प्रवृत्तियों के दिशा-परिवर्तन आदि के कालक्रम को स्पष्ट करना ही कालविभाजन का लक्ष्य होता है।

साहित्येतिहास का कालविभाजन जहाँ तक संभव हो साहित्यिक आधार पर किया जाना चाहिए। आचार्य नलिन विलोचन शर्मा का कथन इस दृष्टि से उल्लेखनीय है: "यदि हम मानते हैं कि मनुष्य के राजनीतिक, सामाजिक, बौद्धिक या भाषा-वैज्ञानिक विकास से संपृक्त रहते हुए साहित्य का स्वतंत्र विकास होता है और दूसरा पहले का निष्क्रिय प्रतिबिंब नहीं है, तो हम अनिवार्यतः इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि साहित्यिक युग विशुद्ध साहित्यिक मानदंड के सहारे निर्धारित होने चाहिएं।"[1] अतः कालविभाजन और नामकरण यथासाध्य साहित्यिक आधार पर किया जाना चाहिए, हालाँकि यह साहित्यिक आधार परिवेशगत परिस्थितियों से पूर्णतया असंपृक्त नहीं हो सकता।

1.3.3 मूल्यांकन

आप जानते हैं कि अतीत का पुनर्मूल्यांकन इतिहासकार का चरम लक्ष्य है। इतिहास मूलतः मूल्यांकनपरक होता है। सवाल यह है कि अतीत की रचनाओं का मूल्यांकन अतीत के अनुभव के रूप में करना चाहिए या नए अनुभव के आधार पर? रचना का मूल्यांकन उसके रचना-काल के संदर्भ में किया जाए या वर्तमान के संदर्भ में? वस्तुतः इतिहास में रचना के अतीत और वर्तमान को एक दूसरे से अलग करके नहीं रखा जा सकता है। एक तरफ जहाँ रचना के अतीत की मीमांसा गलत इतिहास दृष्टि है, वहीं उसे केवल वर्तमान के आलोक में रखकर देखना भी सही दृष्टि नहीं है। दरअसल रचना के अतीत और उसकी आज के संदर्भ में सार्थकता दोनों पक्षों पर इतिहासकार को विचार करना चाहिए। डॉ. मैनेजर पांडेय के शब्दों में " साहित्य का इतिहास वर्तमान की चेतना के परिप्रेक्ष्य में ही अतीत की सार्थकता की व्याख्या करके वर्तमान के लिए उसे उपयोगी और प्रासंगिक बनाता है।"[2] वस्तुतः मूल्यांकन का आधार इतिहासकार को अपने युग से प्राप्त होता है। अतः उसके लिए अतीत के सम्यक ज्ञान के साथ-साथ वर्तमान का सही बोध भी आवश्यक है।

बोध प्रश्न

4) साहित्य का इतिहास लिखते समय इतिहासकार को किन-किन चरणों से गुजरना पडता है?

1 साहित्य का इतिहास-दर्शन, लेखक-आचार्य नलिन विलोचन शर्मा, पृष्ठ-57

क) .....

ख) .....

ग) .....

5 साहित्येतिहास के कालविभाजन का आधार क्या होना चाहिए?
(सही उत्तर के सामने (✓) का चिह्न लगाएँ)

क) राजनीतिक ( )

ख) भौगोलिक ( )

ग) साहित्यिक ( )

घ) वैचारिक ( )

6 कोष्ठक में दिए गए विकल्पों में से सही का चुनाव कर रिक्त स्थान की पूर्ति करें।

क) ..... इतिहास का चरम लक्ष्य है।
(इतिहास का ब्योरा प्रस्तुत करना/इतिहास का पुनर्मूल्यांकन,

ख) इतिहासकार को मूल्यांकन का आधार ..... से प्राप्त होता है।
(अतीत/वर्तमान)

ग) साहित्य का इतिहास साहित्य की ..... को प्रदर्शित करता है।
(अवरुद्ध चेतना/ विकासमान परंपरा)

घ) सामग्री संकलन इतिहास लेखन की ..... है।
(मूल चेतना/पूर्वपीठिका)

1.4 साहित्येतिहास लेखन की विभिन्न पद्धतियाँ

साहित्येतिहास सतत विकासशील विधा है। इसलिए साहित्य के इतिहास की अनेक प्रणालियाँ समय-समय पर अपनाई गयीं। कभी वर्णमाला को आधार बनाया गया तो कभी कालानुक्रम को आधार बनाया गया। किसी इतिहासकार ने इतिहास-लेखन में विधेयवादी पद्धति अपनायी और किसी ने वैज्ञानिक प्रणाली का सहारा लिया। पर यह बात बिना हिचक के कही जा सकती है कि इनमें से कोई भी प्रणाली अंतिम और सर्वथा निर्दोष नहीं है। इसका कारण यह है कि इतिहास लेखन का कोई बना बनाया फार्मूला संभव नहीं है, सबसे महत्वपूर्ण बात यह है इतिहासकार में सही ऐतिहासिक बोध, अंतर्दृष्टि और विवेक का होना आवश्यक है। इसी स्थिति में सही और व्यवस्थित इतिहास लेखन हो सकता है। आइए, साहित्येतिहास लेखन की विभिन्न प्रणालियों का अवलोकन करें।

1.4.1 वर्णानुक्रमी पद्धति

यह इतिहास-लेखन की सबसे अविकसित और भोंड़ी प्रणाली है। इसमें कृतिकारों का परिचय वर्णमाला के अक्षरक्रम से दिया जाता है। गार्सा-द-तासी और शिव सिंह सेंगर ने इसी पद्धति को अपनाया है। वस्तुतः इस प्रकार का इतिहास लिखने का मुख्य कारण है—अपेक्षित सूचनाओं का अभाव। वे अनेक कवियों और रचनाकारों के समय के बारे में निश्चित नहीं थे। अतः वे कालक्रम के अनुसार कृतिकारों को प्रस्तुत करने का प्रयास न कर सके। गार्सा-द-तासी ने अपनी पुस्तक की भूमिका में यह बात स्वीकार भी की है। बाद में ज्यों-ज्यों तथ्य सामने आते गये, कवियों के संबंध में जानकारी बढ़ी और उनके काल का निश्चय होता गया, वैसे-वैसे यह प्रणाली अपने आप समाप्त होती गयी। आज इस प्रणाली का उपयोग कोई इतिहासकार नहीं करता है।

वस्तुतः वर्णानुक्रम से लिखे गये जीवन परिचय को साहित्य का इतिहास कहना ही नहीं

चाहिए, क्योंकि इतिहास में जिस काल प्रवाह का बोध वर्तमान होता है, उसका इस प्रणाली में कहीं नामोनिशान तक नहीं है। ऐसे ग्रन्थों को ज्यादा से ज्यादा "साहित्यकार-कोश" की संज्ञा दी जा सकती है।

1.4.2 कालानुक्रमी पद्धति

इस पद्धात के इतिहास में रचनाकारों का उल्लेख उनके नामों के प्रथमाक्षर या महत्व के आधार पर न कर ऐतिहासिक तिथिक्रम के आधार पर किया जाता है। इसमें सबसे पहली समस्या तो जन्म और रचना को लेकर शुरू हो जाती है। ऐतिहासिक कालक्रम का निर्धारण करते समय रचनाकार की जन्म तिथि को आधार बनाया जाए या उसकी रचना तिथि को। अगर किसी रचनाकार का उल्लेख ऐतिहासिक कालक्रम से करना भी पड़े तो रचना तिथि को ही आधार बनाना अधिक उपयुक्त होगा। हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखन में डॉ. गियर्सन और मिश्रबंधुओं ने यही पद्धति अपनायी है। उर्दू साहित्य में मुहम्मद हुसैन आजाद और अँग्रेजी में डॉ. जॉनसन ने भी इसी प्रणाली का निर्वाह किया है।

यहाँ भी फिर वही सवाल उठ खड़ा होता है कि क्या कवियों और लेखकों का विवरण प्रस्तुत करना ही इतिहास का उद्देश्य है? ऐसा बिल्कुल नहीं है। साहित्य सृष्टि में व्यक्ति का योगदान होता है पर वह उस परिवेश की भी अभिव्यक्ति है, जिसमें वह रचा जा रहा है। इसलिए साहित्येतिहास का उद्देश्य कुछ प्रमुख रचनाकारों और उसके कृतित्व का परिचय प्रदान करना नहीं है बल्कि उस व्यापक पृष्ठभूमि का आभास कराना है, जिसमें साहित्य रचा गया है। जब तक युग की पृष्ठभूमि की जानकारी नहीं होगी, तब तक कवि विशेष या उसकी रचना का मूल्यांकन संभव नहीं होगा। इसके अतिरिक्त साहित्य के इतिहास का उद्देश्य रचनाकारों के जन्म-मृत्यु और उनकी रचनाओं के गुण दोषों से परिचित कराना ही नहीं है, बल्कि वह मानव चिंताधार के विकासक्रम का दस्तावेज भी है। वृत्तसंग्रहमूलक प्रणाली, चाहे वह ऐतिहासिक तिथिक्रम से ही क्यों न नियोजित हो, साहित्य के इतिहास के इस व्यापक उद्देश्य की पूर्ति में समर्थ नहीं हो सकती। अतः यह प्रणाली भी साहित्य के इतिहास लेखन के लिए विशेष उपयोगी नहीं है।

1.4.3 वैज्ञानिक पद्धति

कालक्रमिक पद्धति में जहाँ ऐतिहासिक कालानुक्रम से रचनाकारों और रचनाओं की तालिका प्रस्तुत कर दी जाती है, वहीं वैज्ञानिक पद्धति में तथ्यों को प्रस्तुत भर कर देना पर्याप्त माना जाता है। यह प्रणाली मुख्यतः शोध पर आधारित है। इसमें शोध द्वारा तथ्यों को वैज्ञानिक और क्रमबद्ध तरीके से प्रस्तुत भर कर दिया जाता है। वस्तुतः इसमें इतिहासकार निरपेक्ष बने रहने का प्रयत्न करता है। पर तथ्यों का संकलन इतिहास नहीं है। इतिहास तथ्य और व्याख्या का मिला जुला रूप है। इस संदर्भ में डॉ. नामवर सिंह की टिप्पणी उल्लेखनीय है, "मानव इतिहास की प्रवहमणं धारा में धारा और किनारा सब कुछ मनुष्य ही है, तटस्थ कोई नहीं। जो विरोधी धाराओं के संघर्ष से घबराकर निष्पक्षता में विश्राम करना चाहता है, वह प्रवाह-पतित अनजाने ही इतिहास-विरोधी धारा में जा पड़ता है। यद्यपि इन विद्वानों के तथ्य-संग्रह नये इतिहास के लिए उपयोगी हो सकते हैं, फिर भी आज ऐसे नकारात्मक दृष्टिकोण से काम नहीं चल सकता।"[1]

1.4.4 विधेयवादी पद्धति

"विधेयवाद" अँग्रेजी के पॉजिटिविज्म का शब्दानुवाद है। इस प्रणाली में असंबद्ध तथ्य एकत्रित किए जाते हैं। इसके अनुसार साहित्य की व्याख्या भौतिक विज्ञान की प्रणालियों से, कार्य-कारण मीमांसा के आधार पर करनी चाहिए। इस पद्धति के जन्मदाता तॉय (Taine) ने इस प्रणाली को जाति, वातावरण और क्षण—इन तीन शब्दों में सूत्रबद्ध किया हैं। उन्होंने यह विचार सामने रखा है कि किसी भी साहित्य के इतिहास को समझने के लिए उससे संबंधित जातीय परम्पराओं, राष्ट्रीय और सामाजिक वातावरण एवं सामाजिक परिस्थितियों का अवलोकन-विश्लेषण आवश्यक है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने

---

1 इतिहास और आलोचना, पृ. 178-79

साहित्येतिहास में इसी पद्धति को अपनाया है।

विधेयवादी इतिहासकार साहित्य संबंधी आँकड़े एकत्र करने के साथ-साथ तत्कालीन सामाजिक जीवन का अध्ययन करता है और फिर समाज और साहित्य में कार्य-कारण-संबंध स्थापित करता है।

यह प्रणाली साहित्य इतिहास के लेखन के लिए उपयोगी तो है, पर यह भी एकांगी इतिहास-दृष्टि है। निश्चित रूप से साहित्य पर समाज का प्रभाव पड़ता है और एक सीमा तक सामाजिक परिस्थितियाँ साहित्य के स्वरूप निर्धारण में सहायक भी होती हैं, पर साहित्य-निर्माण में परम्परा का भी योगदान होता है। विधेयवादी पद्धति परम्परा का मूल्यांकन नहीं कर पाती है। इसलिए विधेयवादी पद्धति से सामाजिक परिस्थितियों और साहित्य में संबंध स्थापित करते समय यह ध्यान देना चाहिए कि साहित्य का कितना अंश सामयिक परिस्थितियों से प्रभावित है और कितना अंश परम्परा से प्रेरित है।

1.4.5 समाजशास्त्रीय पद्धति

इतिहास-लेखन की समाजशास्त्रीय पद्धति मार्क्सवादी द्वंद्वात्मक भौतिकवाद के सिद्धांत पर आधारित है। हमारे समाज में यह द्वंद्व शोषक और शोषित के संघर्ष के रूप में प्रतिबिंबित होता है। चूँकि साहित्य भी सामाजिक सृष्टि है, इसलिए इसमें दोनों प्रकार की भावनाएँ देखने को मिलती हैं। इतिहासकार का कर्त्तव्य साहित्य के अंतर्निहित तत्वों का उद्‌घाटन कर उसकी मूल प्रेरणा का विश्लेषण और जनहित की कसौटी पर उसका मूल्यांकन करता है। द्वंद्वात्मक प्रणाली समाज और व्यक्ति की असंगतियों एवं अंतर्विरोधों को पहचानने का प्रयत्न करती है। इसके अनुसार ये असंगतियाँ और अंतर्विरोध साहित्य में भी वर्तमान हैं।

मार्क्स ने समाज-रचना और उसकी विकास प्रक्रिया को बड़ी गहराई से विवेचित किया है और यह साहित्य के मूल्यांकन की दृष्टि से उपादेय भी है।

निष्कर्ष

साहित्य के इतिहास-लेखन में विधेयवादी और समाजशास्त्रीय पद्धति का साथ-साथ उपयोग किया जाना चाहिए। इसके साथ-साथ परंपरा का मूल्यांकन भी किया जाना चाहिए। वस्तुतः साहित्येतिहास लेखन का कोई फार्मूला नहीं बनाया जा सकता। साहित्येतिहास के समग्र और संतुलित होने में इतिहासकार के इतिहास-बोध और दृष्टकोण का विशेष महत्व है। साहित्य के इतिहास में साहित्य और समाज के संबंध, परम्परा और रचनाकार के संबंध पर विचार करना आवश्यक है। साहित्य का इतिहास लिखते समय ऐतिहासिक शोध और समाजशास्त्रीय सिद्धांत के साथ-साथ सौंदर्यशास्त्रीय नियमों की जानकारी भी आवश्यक है। लेकिन सबसे जरूरी चीज है इतिहासकार की अंतर्दृष्टि, विवेक और उसका इतिहास-बोध।

बोध प्रश्न

7 इतिहास-लेखन की सबसे अविकसित प्रणाली कौन-सी है? (सही उत्तर के सामने (✓) का निशान लगाएँ)

क) विधेयवादी प्रणाली ( )

ख) वर्णानुक्रम पद्धति ( )

ग) कालानुक्रमी पद्धति ( )

घ) सामाजशास्त्रीय पद्धति ( )

8 निम्नलिखित में से किन-किन पद्धतियों में मूल्यांकन का अभाव होता है? (सही उत्तर के सामने (✓) का चिह्न लगाएँ)

क) विधेयवादी पद्धति ( )

ख) वर्णानुक्रमी पद्धति ( )

ग) समाजशास्त्रीय पद्धति ( )

घ) कालानुक्रमी पद्धति ( )

ड.) वैज्ञानिक पद्धति ( )

च) ख, घ और ड. ( )

9 विधेयवादी पद्धति से आप क्या समझते हैं? (पाँच पंक्तियों में उत्तर दीजिए)

.....

.....

.....

.....

.....

10 कालम 'क' और 'ख' का सही मिलान करें।

कालम 'क'	कालम 'ख'
i) वर्णानुक्रमी पद्धति	i) तथ्यों की प्रस्तुति
ii) कालानुक्रमी पद्धति	ii) जातीय परम्पराओं, राष्ट्रीय सामाजिक वातावरण का विश्लेषण
iii) वैज्ञानिक पद्धति	iii) वर्णमाला के अक्षरक्रम से कृतिकारों का परिचय
iv) विधेयवादी पद्धति	iv) द्वंद्वात्मक भौतिकवाद के सिद्धांत पर आधारित
v) समाजशास्त्रीय पद्धति	v) काल के अनुसार कृतिकारों का परिचय
.....	.....
.....	.....
.....	.....
.....	.....
.....	.....

1.5 हिन्दी साहित्येतिहास लेखन की परंपरा

हिन्दी साहित्य के इतिहास का लेखन उन्नीसवीं शताब्दी से आरंभ हुआ है। हालाँकि इसके पूर्व विभिन्न लेखकों ने ऐसे ग्रन्थों की रचना की थी, जिसमें हिन्दी के विभिन्न रचनाकारों के जीवन-वृत्त और कृतित्व का परिचय दिया गया था, पर इन्हें इतिहास की संज्ञा नहीं दी जा सकती है। ये ग्रंथ मूलतः इतिवृत्तात्मक हैं और इनमें काल-क्रम, सन्-संवत् का भी अभाव है। मूल्यांकन का तत्व तो इन ग्रंथों में दूर-दूर तक दृष्टिगोचर नहीं होता है। चौरासी वैष्णवन की वार्ता, दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता, भक्तभाल, कविमाला, कालिदास-हजारा आदि ऐसे ही ग्रंथ हैं।

1.5.1 इतिहास-लेखन के आरंभिक प्रयत्न

हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखन का पहला प्रयास एक फ्रांसीसी विद्वान गार्सा-द-तासी ने किया। उन्होंने फ्रांसीसी भाषा में "इस्त्वार द ला लितरेत्युर ऐन्दुई ऐन्दुस्तानी" नामक ग्रंथ लिखा, जिसमें हिन्दी और उर्दू के अनेक कवियों का परिचय वर्णक्रमानुसार दिया गया है। पर इसमें लेखक ने अपने को रचनाकार के जीवनवृत्त और रचनाओं के परिचय तक ही सीमित रखा है। इसमें काल-विभाजन, युगीन-प्रवृत्तियों और परंपरा के विवेचन का कोई प्रयास नहीं किया गया है। इसलिए इस ग्रंथ को "इतिहास" की अपेक्षा "वृत्त संग्रह" मानना अधिक उपयुक्त है।

ताँसी के बाद शिव सिंह सेंगर ने हिंदी साहित्य का इतिहास लिखने का प्रयत्न किया। इन्होंने अपने ग्रंथ "शिव सिंह सरोज" में लगभग एक हजार कवियों की जीवनी और

उनकी कविताओं के उदाहरण संकलित किए हैं। मूलतः यह काव्य संग्रह है। वस्तुतः इतिहास के रूप में इस ग्रंथ का महत्व नहीं है पर इस ग्रंथ ने अधिक से अधिक कवियों और कविताओं को एक साथ इकट्ठा करने का महत्वपूर्ण काम किया। बाद के इतिहासकारों के लिए यह ग्रंथ स्रोत के रूप में लाभकारी सिद्ध हुआ।

जार्ज अब्राहम ग्रियर्सन ने पहली बार "द मार्डन वर्नेक्यूलर लिट्रेचर ऑफ हिन्दुस्तान" में कवियों और लेखकों का कालक्रमानुसार वर्गीकरण किया और साथ ही साथ उनकी प्रवृत्तियों को उद्घाटित करने का भी प्रयत्न किया। उन्होंने विभिन्न युगों की काव्य प्रवृत्तियों की व्याख्या करते हुए उनसे संबंधित सांस्कृतिक परिस्थियों और प्रेरणा-स्रोतों के उद्घाटन का भी प्रयास किया। वस्तुतः इसे हिंदी साहित्य का पहला इतिहास ग्रंथ कहा जा सकता है। अपनी सारी सीमाओं के बावजूद ग्रियर्सन ने हिंदी भाषा और साहित्य के स्वरूप एवं विकास के संबंध में एक दृष्टिकोण सामने रखा, जो परवर्ती इतिहासकारों के लिए भी पथ प्रदर्शक सिद्ध हुआ।

मिश्रबंधुओं ने "मिश्रबंधु विनोद" नाम से हिन्दी साहित्य का इतिहास लिखा। इसे सुव्यवस्थित करने के लिए उन्होंने इस ग्रन्थ को आठ काल-खंडों में विभक्त किया। अपने इस ग्रन्थ में उन्होंने लगभग पाँच हजार कवियों का उल्लेख किया है। यह ग्रंथ भी इतिहास न होकर "साहित्यकार कोश" है। यह ग्रंथ सूचनाओं का अपार भंडार है, जो बाद के इतिहासकारों के लिए कच्चे माल के रूप में काफी उपयोगी सिद्ध हुआ।

1.5.2 आचार्य रामचंद्र शुक्ल और इतिहास-लेखन

हिन्दी साहित्य का व्यवस्थित इतिहास लिखने का प्रथम श्रेय आचार्य रामचंद्र शुक्ल को है। इस बात का उल्लेख इस इकाई के आरंभ में ही कर दिया गया है कि रामचंद्र शुक्ल ने युगीन परिस्थितियों के संदर्भ में साहित्य के विकास क्रम की व्याख्या करने का प्रयास किया। इसकी पुष्टि के लिए आप उपभाग 1.2.2 में उद्धृत आचार्य शुक्ल के इतिहास संबंधी कथन को फिर से पढ़ सकते हैं। उनकी साहित्येतिहास संबंधी अवधारणा में निम्नलिखित बातें शामिल हैं।

1 प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ की जनता की चित्तवृत्ति का संचित प्रतिबिंब होता है।

2 जनता की चित्तवृत्ति के परिवर्तन के साथ-साथ साहित्य का स्वरूप भी परिवर्तित होता चला जाता है।

3 जनता की चित्तवृत्ति के परिवर्तन के चलते राजनीतिक, सामाजिक तथा धार्मिक परिस्थितियों का अवलोकन भी आवश्यक है।

इस प्रकार शुक्ल जी ने जनता की चित्तवृत्ति के साथ साहित्य का संबंध जोड़ते हुए उसके क्रमिक विकास और परिवर्तन का आलेख प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। इसके साथ ही साथ उन्होंने प्रेरक परिस्थितियों का भी सम्यक विवेचन किया है।

1.5.3 आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी और इतिहास-लेखन

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने हिन्दी साहित्य का इतिहास लिखते समय जहाँ युगीन परिस्थितियों पर बल दिया वहाँ आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने परंपरा को इतिहासलेखन का आधार बनाया। उन्होंने रामचंद्र शुक्ल के युग रुचिवादी दृष्टिकोण के समानान्तर अपने परम्परापरक दृष्टिकोण को स्थापित करके हिंदी साहित्य के अध्येताओं के लिए एक व्यापक और संतुलित इतिहास-दर्शन की भूमिका तैयार की। दरअसल परंपरा और युगीन परिस्थितियों के सम्यक मूल्यांकन से संतुलित इतिहास का निर्माण हो सकता है, अतः यह कहा जा सकता है कि आचार्य शुक्ल और आचार्य द्विवेदी के मत एक दूसरे के पूरक हैं।

1.5.4 परवर्ती इतिहासकार और इतिहास-लेखन

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के बाद अनेक साहित्येतिहासकारों ने हिन्दी साहित्य का इतिहास लिखा। इनमें रामकुमार वर्मा, धीरेंद्र वर्मा, नगेन्द्र, राम विलास शर्मा आदि प्रमुख हैं। रामविलास शर्मा को छोड़कर अन्य इतिहासकारों ने कामोबेश आचार्य शुक्ल और आचार्य द्विवेदी की मान्यताओं की ही पुनः प्रस्तुति की। अतः यहाँ केवल राम विलास शर्मा

की इतिहास दृष्ट की अलग से संक्षेप में चर्चा की जा रही है।

राम विलास शर्मा हिन्दी के प्रसिद्ध मार्क्सवादी आलोचक और इतिहास लेखक हैं, इसलिए उनकी इतिहास दृष्टि मार्क्सवादी सिद्धांतों से प्रभावित है। उन्होंने भारतेंदु हरिश्चन्द्र, महावीर प्रसाद द्विवेदी और रामचंद्र शुक्ल के संकेतों तथा सूत्रों को आगे बढ़ाते हुए हिन्दी भाषा के गठन, निर्माण और विकास का प्रामाणिक विवेचन किया है। हिन्दी भाषा और साहित्य के जातीय स्वरूप की पहचान, खोज और रक्षा उनके लेखन का प्रमुख लक्ष्य है। वस्तुतः हिन्दी साहित्य के जातीय रूप और विशेषताओं के विकास का प्रश्न उनके इतिहास लेखन में प्रमुख रूप से उभरकर सामने आया है। इस दृष्टि से उन्होंने हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखन को नयी जमीन और नयी दिशा प्रदान की है।

निष्कर्ष

इस प्रकार हिन्दी साहित्य में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल से लेकर रामविलास शर्मा तक इतिहास लेखन की एक विकासशील परंपरा देखने को मिलती है। आप जानते हैं कि आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने जहाँ युगीन परिस्थितियों पर बल दिया है, वहीं आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने परंपरा पर अपना मूल्यांकन आधारित किया है। पर आचार्य द्विवेदी की इतिहास दृष्टि आचार्य शुक्ल के दृष्टिकोण की विरोधी नहीं बल्कि पूरक है। भविष्य के इतिहासकार दोनों इतिहास दृष्टियों का एक साथ उपयोग कर संतुलित इतिहास लिख सकते हैं और साहित्य की विकासशील परंपरा और प्रवृत्ति का पुनर्मूल्यांकन कर सकते हैं। रामविलास शर्मा ने आचार्य रामचंद्र शुक्ल और हजारी प्रसाद द्विवेदी के संकेत सूत्रों को अपनी दृष्टि से पल्लवित और सुनियोजित किया है। उनकी इतिहास दृष्टिपूर्व के दोनों इतिहासकारों से भिन्न अवश्य है, पर दूसरी तरफ वह पूर्व इतिहासकारों की इतिहास दृष्टि का विकास भी है।

1.6 हिन्दी साहित्येतिहास लेखन की समस्याएँ

अभी हमने हिन्दी साहित्येतिहास लेखन के विभिन्न प्रयासों की चर्चा की। इसी से जुड़ा एक सवाल यह है कि हिन्दी साहित्य का इतिहास लिखते समय किन-किन साहित्यकारों और साहित्य पर विचार किया जाए। दूसरा सवाल अपभ्रंश और हिंदी के संबंध से जुड़ा हुआ है। हिंदी साहित्य का कालविभाजन पर भी पुनर्विचार किया जा सकता है।

1.6.1 रचनाओं और रचनाकारों का समावेश

हिन्दी साहित्य का इतिहास लिखते समय इतिहासकार के सामने सबसे पहला सवाल यह उठ खड़ा होता है कि इसमें किस प्रकार के साहित्य का मूल्यांकन किया जाना चाहिए। कुछ विद्वान रसात्मक और ललित साहित्य का ही विवेचन और मूल्यांकन करना चाहते हैं, तो कुछ विद्वान ज्ञानात्मक साहित्य, जैसे आयुर्वेद, ज्योतिष, इतिहास, भूगोल, राजनीतिशास्त्र की भी चर्चा करने के पक्ष में हैं।

साहित्य के इतिहास में रसात्मक साहित्य के अतिरिक्त ज्ञान के साहित्य का समावेश किया जाए या नहीं, यह इस बात पर निर्भर है कि साहित्य के इतिहास लेखन का प्रयोजन क्या है? वस्तुतः साहित्य के विकास को निरूपित करने के क्रम में दोनों प्रकार के साहित्य की सहायता ली जानी चाहिए। निश्चित रूप से उसमें प्रधानता ललित साहित्य की होगी, पर इसके अतिरिक्त उन कृतियों को भी स्थान दिया जाना चाहिए जो अभिव्यक्ति के वैशिष्ट्य और भाषा शैली के विकास के निरूपण में सहायक सिद्ध हो सकते हैं। आदिकाल की नाथपंथी रचनाएँ या मध्ययुगीन वार्ताग्रन्थ शुद्ध साहित्य की कोटि में नहीं आते। फिर भी साहित्य के इतिहास में उनका उल्लेख इसलिए किया जाता है क्योंकि उनके माध्यम से भाषा के विकास की अवस्थाएँ प्रकट होती हैं। अतः भाषा और साहित्य के विकास को निरूपित करने वाले सभी साहित्य-ग्रंथों की सहायता इतिहास-लेखन के क्रम में लेनी चाहिए।

1.6.2 हिन्दी साहित्य का आरंभ

हिन्दी साहित्येतिहास लेखन के समय प्रत्येक इतिहासकार को "हिन्दी साहित्य के आरंभ" के सवाल से जूझना पड़ता है। उसके सामने यह प्रश्न बार-बार आता है कि हिंदी साहित्य में अपभ्रंश साहित्य को शामिल किया जाए या नहीं। अगर अपभ्रंश को हिंदी के अंतर्गत मानते हैं, तो हिंदी साहित्येतिहास का आरंभ 7वीं-8वीं शताब्दी से माना जाएगा और यदि अपभ्रंश की परवर्ती परंपरा को ही हिंदी मानते हैं, तो दसवीं शताब्दी हिंदी साहित्य की प्रस्थान-बिंदु होगी। चंद्रधर शर्मा गुलेरी और पं. राहुल सांकृत्यायन जहाँ अपभ्रंश साहित्य को "पुरानी हिन्दी" स्वीकार करते हुए हिंदी साहित्य का आरंभ सातवीं शताब्दी से मानते हैं, वहीं आचार्य रामचंद्र शुक्ल और आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी हिन्दी साहित्य का आरंभ दसवीं शताब्दी से मानते हैं। आचार्य रामचंद्र शुक्ल और आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का मत आज विद्वानों के बीच अधिक मान्य है। इस समस्या पर हम अगली इकाई में विस्तार से बातचीत करेंगे।

1.6.3 अन्य समस्याएँ

हिन्दी साहित्य का इतिहास लिखते समय इतिहासकार को हिंदी शब्द की व्यापकता हिंदी साहित्य के इतिहास में गौण रचनाकारों के योगदान और कालविभाजन और नामकरण जैसी समस्याओं से भी जूझना पड़ता है। कालविभाजन और नामकरण की समस्या पर हम अगली इकाई में विस्तार से विचार करेंगे। जहाँ तक "हिन्दी" शब्द का प्रश्न है, उसके बारे में यह उचित प्रतीत होता है कि "हिन्दी" के अंतर्गत राजस्थान से बिहार तक की उन सभी बोलियों या उपभाषाओं को शामिल करना चाहिए जिनमें मूल शब्द भंडार, सांस्कृतिक-साहित्यिक आदर्श, लिपि और एक सीमा तक व्याकरण की समानता है। गौण रचनाकारों को शामिल किए जाने के संबंध में यह मत उचित प्रतीत होता है कि विभिन्न युगों की प्रवृत्तियों को परखने के लिए केवल प्रमुख साहित्यकारों पर ही नहीं, गौण रचनाकारों पर भी ध्यान देना जरूरी है। इसके साथ ही साथ लोक साहित्य को भी हिन्दी साहित्य के इतिहास में शामिल किया जाना चाहिए।

बोध प्रश्न

11 हिन्दी साहित्य का इतिहास सबसे पहले किसने लिखा? (सही उत्तर के सामने (✓) का चिह्न लगाएँ)

क) ग्रियर्सन ( )

ख) रामचंद्र शुक्ल ( )

ग) गार्सा-द-तासी ( )

घ) हजारी प्रसाद द्विवेदी ( )

12 निम्नलिखित कॉलमों का सही मिलान करें।

"क"	"ख"
i) गार्सा-द-तासी	i) द मॉर्डन वर्नेक्यूलर लिट्रेचर ऑफ हिन्दुस्तान
ii) ग्रियर्सन	ii) इस्त्तार द ला लितरेत्युर ऐन्दुस्तानी
iii) मिश्रबंधु	iii) शिव सिंह सरोज
vi) शिव सिंह सेंगर	vi) मिश्रबंधु विनोद

....

....

....

....

....

13 हिन्दी साहित्य इतिहास लेखन की प्रमुख समस्याओं का उल्लेख करें।

क) .....

ख) .....

ग) .....

1.7 सारांश

इस इकाई को पढ़ लेने के बाद इतिहास और साहित्य के इतिहास संबंधी अवधारणा से आप परिचित हो गये होंगे। अब आप समझ चुके होंगे कि इतिहास मात्र अतीत का ब्यौरा नहीं है, बल्कि वह परंपरा और प्रवृत्ति को समझने का एक आलोचनात्मक प्रयास है।

इतिहास लिखने के क्रम में इतिहासकार आधारभूत सामग्री का संकलन करता है, और उसका युग की प्रवृत्तियों और परंपरा के आधार पर वर्तमान संदर्भ में मूल्यांकन करता है। इस क्रम में वह साहित्य के इतिहास को विभिन्न काल खंडों में बाँटता है और उनका नामकरण करने का प्रयास करता है।

हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखन की कई पद्धतियाँ अपनायी गयी है, मसलन वर्णानुक्रमी पद्धति, कलानुक्रमी पद्धति, वैज्ञानिक पद्धति, विधेयवादी पद्धति और समाजशास्त्रीय पद्धति। गार्सा-द-तासी से लेकर रामविलास शर्मा तक के साहित्येतिहास लेखन में सतत विकास के लक्षण दृष्टिगोचर होते हैं। साहित्य का इतिहास लिखने के क्रम में इतिहासकारों के सामने कुछ समस्याएँ आती हैं, जैसे रचनाकारों और उनकी रचनाओं के समावेश का प्रश्न, हिन्दी साहित्य के आरंभ का प्रश्न, गौण साहित्यकारों को शामिल करने का प्रश्न आदि।

1.8 शब्दावली

अध्येता: अध्ययन करने वाला

अभिव्यंजना शिल्प: अभिव्यक्ति का तरीका

अविच्छिन्न: अविभक्त, जो लगातार हो।

आकर ग्रंथ: ऐसे ग्रंथ जिनमें शब्दों, देशों, व्यक्तियों, घटनाओं आदि का विवरण दिया रहता है।

इतिवृत्तात्मक: घटना प्रधान

चित्तवृत्ति: मन का भाव

दृष्टिकोण: देखने विचारने का पहलू

द्वंद्वात्मक भौतिकवाद: यह शब्द अंग्रेजी के "डायलेक्टिल मैटीरियलिज्म" का हिन्दी रूपांतर है। इस शब्द का पारिभाषिक प्रयोग सर्वप्रथम कार्ल मार्क्स ने किया था। द्वंद्वात्मक भौतिकवाद केवल भौतिकवादी दर्शन ही नहीं है, बल्कि उसकी एक विशिष्ट प्रणाली भी है, जिसके अनुसार वह सृष्टि और समाज का भौतिकवादी अध्ययन करता है।

युग-रुचिवाद: युग की प्रवृत्ति पर आधारित

रसात्मक साहित्य: कहानी, कविता, नाटक आदि सृजनात्मक साहित्य

सयुक्त: संबद्ध

सम्यक: उपयुक्त

1.9 उपयोगी पुस्तकें

द्विवेदी, हजारी प्रसाद, *हिंदी साहित्य उद्भव और विकास*, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली।

नगेन्द्र, *हिन्दी साहित्य का इतिहास*, नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, नई दिल्ली।

पाण्डेय, मैनेजर, *साहित्य और इतिहास दृष्टि*, पीपुल्स लिटरेसी, दिल्ली।

शर्मा, आनन्द नारायण, अनुपम प्रकाशन, पटना।

शर्मा, नलिन विलोचन, *साहित्य का इतिहास-दर्शन*, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना

शुल्क, रामचंद्र, *हिन्दी साहित्य का इतिहास*, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी।

1.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न

1 क)

2 क) × ख) ✓ ग) ✓

3 साहित्य के विकास को पहचानना, नये पुराने के संघर्ष को रेखांकित करना, वर्तमान के परिप्रेक्ष्य में अतीत का मूल्यांकन, रचना और रचनाकार की सृजनशील चेतना का मूल्यांकन आदि (देखें, उपभाग 1.2.2)

4 क) सामग्री संकलन ख) कालविभाजन और नामकरण ग) मूल्यांकन

5 ग)

6 क) अतीत का पुनर्मूल्यांकन ख) वर्तमान ग) विकासमान परंपरा घ) पूर्वपीठिका।

7 ख)

8 ख, घ, ङ, च

9 असंबद्ध तथ्य एकत्र किए जाते हैं। साहित्य की व्याख्या कार्य-कारण संबंध पर आधारित (देखें उपभाग 1.4.4)

10

"क"	"ख"
(i)	(iii)
(ii)	(v)
(iii)	(i)
(iv)	(ii)
(v)	(iv)

11 ग)

12

"क"	"ख"
(i)	(ii)
(ii)	(i)
(iii)	(iv)
(iv)	(iii)

13 क) रचनाकारों और रचनाओं का चयन
ख) हिन्दी साहित्य का आरंभ
ग) कालविभाजन और नामकरण

इकाई 2 कालविभाजन और नामकरण की समस्या

इकाई की रूपरेखा

2.0 उद्देश्य
2.1 प्रस्तावना
2.2 कालविभाजन और नामकरण की आवश्यकता
2.3 कालविभाजन और नामकरण का आधार
2.4 हिन्दी साहित्य के कालविभाजन की समस्या
  2.4.1 हिन्दी साहित्य के कालविभाजन के विभिन्न प्रयास
2.5 नामकरण सम्बन्धी विवाद
  2.5.1 आदिकाल
  2.5.2 भक्तिकाल
  2.5.3 रीतिकाल
  2.5.4 आधुनिक काल
2.6 सारांश
2.7 शब्दावली
2.8 उपयोगी पुस्तकें
2.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

2.0 उद्देश्य

इस इकाई में 'कालविभाजन और नामकरण' की समस्या पर विचार किया जा रहा है। इसे पढ़ने के बाद आप:

- इतिहास में कालविभाजन और नामकरण की आवश्यकता पर प्रकाश डाल सकेंगे,
- कालविभाजन और नामकरण के आधारों को पहचान सकेंगे,
- हिन्दी साहित्येतिहास के कालविभाजन की समस्या को रेखांकित कर सकेंगे, और
- हिन्दी साहित्य के कालविभाजन और नामकरण के विभिन्न प्रयासों का उल्लेख कर सकेंगे।

2.1 प्रस्तावना

अब आप हिंदी के ऐच्छिक पाठ्यक्रम -03 में हिन्दी साहित्य के इतिहास के अंतर्गत उसकी दूसरी इकाई का अध्ययन आरंभ कर रहे हैं, जिसमें हम कालविभाजन और नामकरण की समस्या पर विचार करेंगे। प्रत्येक इतिहास में अतीत काल का अध्ययन किया जाता है किन्तु अध्ययन की सुविधा के लिए अतीत काल को कई काल खण्डों या युगों में बाँट लिया जाता है। साथ ही प्रत्येक काल को किसी न किसी नाम से पुकारा जाता है। इसी प्रक्रिया को "कालविभाजन" और "नामकरण की प्रक्रिया" कहा जाता है। हिंदी साहित्य के इतिहास के अध्ययन के लिए भी उसका कालविभाजन और उसके काल खण्डों का नामकरण किया गया है। पर यह कालविभाजन और नामकरण किस आधार पर किया जाता है? इसके करने की आवश्यकता क्या है? अब तक अलग-अलग विद्वानों ने जो काल-विभाजन किया है, वह कहाँ तक उचित है? इन प्रश्नों पर इस पाठ में विचार किया जाएगा, जिससे कालविभाजन और नामकरण की समस्या को भली भाँति समझा जा सके। कालविभाजन पर विचार करते समय हमें यह बात भली भाँति समझ लेनी चाहिए कि कालविभाजन केवल अध्ययन की सुविधा के लिए किया जाता है। जैसे हम एक राज्य की शासन व्यवस्था के लिए उसे कई जिलों में बाँट लेते हैं और जिलों को भी तहसीलों में बाँट

लेते हैं, उसी प्रकार इतिहास में भी अतीत काल को भली भाँति समझने के लिए कई खण्डों और युगों में बाँट लेते हैं। फिर यह भी ध्यान में रखने की बात है कि हर एक विद्वान काल-विभाजन अपनी-अपनी दृष्टि से करता है। ऐसी स्थिति में यह भी संभव है कि अलग-अलग साहित्येतिहास लेखकों के द्वारा किया गया कालविभाजन आपस में मेल न खाए। अस्तु, इन बातों को ध्यान में रखते हुए ही हमें कालविभाजन की समस्या पर विचार करना है।

2.2 कालविभाजन और नामकरण की आवश्यकता

इतिहास को सही ढंग से समझने के लिए कालविभाजन और नामकरण आवश्यक है। साहित्येतिहास भी इसका अपवाद नहीं है। कालविभाजन और नामकरण करने से इतिहास में एक प्रकार की व्यवस्था भी आती है। रेनवेलेक का कहना ठीक है कि कालविभाजन के बिना साहित्य का इतिहास घटनाओं की अर्धव्यवस्था का समूह, मनमाना नामकरण और साहित्य का दिशाहीन प्रवाह हो जाता है। वस्तुतः कालविभाजन से साहित्य के विकास की दिशा, विकास को प्रभावित करने वाले तत्वों, विभिन्न परिवर्तनों और मोड़ों का पता चलता है। इसके जरिये हम साहित्य विशेष की बदली प्रवृत्तियों को समझ पाते हैं और उनका मूल्यांकन कर पाते हैं।

समय बदलने के साथ-साथ युग की परिस्थितियाँ और प्रवृत्तियाँ बदलती रहती हैं। इतिहास का अध्ययन करने के लिए प्रत्येक युग की परिस्थितियां और प्रवृत्तियाँ पर भी विचार किया जाता है। सभी युगों की परिस्थितियां और प्रवृत्तियां एक जैसी नहीं होती, इसीलिए इतिहास को उसकी परिस्थितियों के बदलाव के अनुसार अलग-अलग कालों में बाँटना पड़ता है; फिर उन कालों या युगों की पहचान के लिए कोई न कोई नाम देना पड़ता है। इसीलिए इतिहास के अध्ययन में कालविभाजन और नामकरण की आवश्यकता पड़ती है।

2.3 कालविभाजन और नामकरण का आधार

अब आपके सामने यह स्पष्ट है कि कालविभाजन और नामकरण का उद्देश्य इतिहास की विभिन्न परिस्थितियों के सन्दर्भ में उसकी घटनाओं एवं प्रवृत्तियों के विकासक्रम को स्पष्ट करना होता है। साहित्य की अन्तर्निहित चेतना के क्रमिक विकास, परंपराओं के उत्थान-पतन और विभिन्न प्रवृत्तियों के उदय को स्पष्ट करना ही कालविभाजन और नामकरण का उद्देश्य है।

साहित्य का विकास समाज के बीच होता है। समाज में जब कोई बड़ा परिवर्तन आता है, तो साहित्य पर भी उसका प्रभाव पड़ता है। इस स्थिति में साहित्येतिहास का कालविभाजन सामाजिक या राजनीतिक इतिहास से अप्रभावित नहीं रह सकता। पर साहित्य का अपना स्वतंत्र अस्तित्व होता है और वह राजनीति की अनुचर नहीं है। अतः राजनीतिक अथवा सामाजिक इतिहास का सहारा वहीं तक लिया जाना चाहिए, जहाँ तक वह साहित्य की मूल चेतना को प्रभावित करती हो। वस्तुतः साहित्य के इतिहास का युग विभाजन और नामकरण का आधार साहित्यिक प्रवृत्ति और चेतना ही होनी चाहिए।

कालविभाजन और नामकरण के लिए कभी ऐतिहासिक कालक्रम को आधार बनाया जाता है, तो कभी शासक और शासनकाल को आधार बनाया जाता है। कभी किसी साहित्यकार, राष्ट्रीय, सामाजिक, सांस्कृतिक प्रवृत्ति और साहित्यिक प्रवृत्ति को कालविभाजन और नामकरण का आधार बनाया जाता है। नीचे दी गयी तालिका से यह बात और स्पष्ट हो जाएगी।

1 ऐतिहासिक कालक्रम ← आदिकाल, मध्यकाल, आधुनिक काल

2 शासक और शासन काल ← एलिजाबेथ युग, विक्टोरिया युग, मराठा युग

3 साहित्यकार ← भारतेन्दु युग, द्विवेदी युग, प्रसाद युग

4 राष्ट्रीय, सामाजिक, सांस्कृतिक ← भक्तिकाल, पुनर्जागरण काल, स्वातंत्र्योत्तर काल

5 साहित्यिक प्रवृत्ति ← रीतिकाल, छायावाद युग, प्रगतिवाद

6 राजनीतिक नेता ← गांधी युग, स्तालिन युग, नेहरू युग

ऊपर की तालिका से यह स्पष्ट हो जाता है कि साहित्येतिहास के कालविभाजन और नामकरण के लिए कई प्रकार के आधार ग्रहण किए जाते हैं। कभी किसी साहित्यिक प्रवृत्ति के आधार पर नामकरण किया जाता है, तो कभी सांस्कृतिक प्रवृत्ति के आधार पर अथवा कभी किसी साहित्यिक या राजनीतिक व्यक्ति के नाम के आधार पर।

वस्तुतः कालविभाजन और नामकरण का आधार साहित्यिक प्रवृत्ति और मूल साहित्यिक चेतना ही होनी चाहिए। जहाँ ऐसा होता है, वहाँ नामकरण के सम्बन्ध में कोई दिक्कत पेश नहीं आती। पर यह जरूरी नहीं है कि किसी कालखंड विशेष में एक साहित्यिक प्रवृत्ति की ही प्रधानता हो। इस स्थिति में हमें दूसरे आधारों की ओर बढ़ना पड़ता है। कभी किसी राष्ट्रीय सांस्कृतिक चेतना का प्रभाव पूरे कालखंड के साहित्य पर पड़ता है (जैसे भक्ति, पुनर्जागरण), कभी किसी व्यक्ति (साहित्यिक या राजनीतिक) का प्रभाव उस कालखंड के साहित्य पर पड़ता है (जैसे युग, द्विवेदी युग आदि)।

अतः कालविभाजन और नामकरण करते समय अनेक आधारों का सहारा लेना पड़ता है। कालविभाजन और नामकरण में एकरूपता का आग्रह ठीक नहीं है। कालविभाजन और नामकरण विवेक सम्मत होना चाहिए। सही कालविभाजन और नामकरण वही है, जो साहित्य की परम्परा को सही रूप में व्यक्त करने में सहायक हो। इसे संक्षेप में इस प्रकार रखा जा सकता है:

1 कालविभाजन का आधार साहित्यिक प्रवृत्ति होना चाहिए।

2 नामकरण भी साहित्यिक प्रवृत्ति के अनुसार करना चाहिए; ऐसा संभव न होने की स्थिति में राष्ट्रीय सांस्कृतिक प्रवृत्ति को आधार बनाया जा सकता है।

3 युगों की सीमा का निर्धारण मूल प्रवृत्तियों के शुरू होने और अस्त होने पर आधारित होना चाहिए। जहाँ से साहित्य की मूल चेतना में परिवर्तन दीख पड़े, वहीं से नये काल की शुरुआत मानी जानी चाहिए।

बोध प्रश्न

1 निम्नलिखित कथनों में से सही उत्तर चुनकर ✓ का निशान लगाएँ:
इतिहास के कालविभाजन और नामकरण की आवश्यकता क्यों पड़ती है?

क) अध्ययन की सुविधा के लिए ( )

ख) इतिहास को सही ढंग से समझने के लिए ( )

ग) कालविभाजन और नामकरण की कोई आवश्यकता नहीं है ( )

घ) क और ख दोनों सही हैं ( )

2 कालविभाजन और नामकरण का मुख्य आधार क्या होता है? (दो पंक्तियों में उत्तर दें)

.....

.....

3 कालविभाजन और नामकरण करते समय इतिहासकार किन-किन बातों को ध्यान में रखता है? (पाँच पंक्तियों में उत्तर दें)

.....

.....

.....

.....

.....

2.4 हिन्दी साहित्य के कालविभाजन की समस्या

जब हम हिंदी साहित्य के इतिहास का कालविभाजन करने की चेष्टा करते हैं तो हमारे सामने कई समस्याएँ उपस्थित होती हैं।

सबसे पहले तो इस बात का निर्णय करना कठिन है कि हिन्दी साहित्य का इतिहास कब से आरंभ होता है; क्योंकि इसके बारे में भी विद्वानों के अलग-अलग मत हैं। हिन्दी साहित्य के सुप्रसिद्ध इतिहास लेखक जार्ज ग्रियर्सन ने अपने इतिहास ग्रंथ में हिन्दी साहित्य का आरंभ सातवीं शताब्दी से ही माना है। परन्तु दूसरे इतिहासकार इस मत को स्वीकार नहीं करते। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का मत है कि पुरानी हिंदी का जन्म तो सातवीं के आस पास हो गया था तथा उसमें सिद्धों, जैनियों एवं नाथ पंथियों ने काव्य भी लिखा था, पर उनके काव्य में अपने-अपने धर्म-संप्रदाय की शिक्षाएँ दी गई हैं। इसीलिए उनमें काव्य के गुण कम मिलते हैं। इसलिए आचार्य शुक्ल इन कवियों के द्वारा रचे हुए काव्य को कोरी "सांप्रदायिक शिक्षा" मानकर काव्य के रूप में स्वीकार नहीं करते। उनका विचार था कि हिन्दी का वास्तविक काव्य वह है जो कि विक्रमी सम्वत 1050 (993 इ.) के बाद से लिखा गया। कहने का तात्पर्य यह है कि आचार्य शुक्ल के मतानसार हिन्दी साहित्य के इतिहास का आरंभ सम्वत 1050 या 993 ई. से ही मानना चाहिए। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, हिंदी साहित्य का आरम्भ दसवीं शताब्दी से मानते हैं। डॉ. रामकुमार वर्मा और डॉ. नगेंद्र इसका आरंभ सातवीं शताब्दी से मानते हैं।

हिन्दी साहित्य का आरंभ कब से माना जाए, इसके बारे में एक समस्या और भी है। वह है हिंदी भाषा और अपभ्रंश भाषा के पारस्परिक सम्बन्ध की। भाषा विज्ञान के विद्वान कहते हैं कि प्राकृत भाषा से अपभ्रंश भाषा का और अपभ्रंश भाषा से आधुनिक भारतीय भाषाओं जिनमें हिंदी भी एक है, का विकास हुआ। इस दृष्टि से अपभ्रंश भाषा हिंदी की जननी है। परन्तु कुछ विद्वान अपभ्रंश को हिन्दी से अलग न मानकर हिंदी का ही एक रूप मानते हैं। उदाहरण के लिए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपभ्रंश को "प्राकृताभास हिंदी" (ऐसी हिन्दी जिसमें प्राकृत का आभास हो) माना है, तो राहुल सांकृत्यायन ने अपभ्रंश को "पुरानी हिन्दी" की संज्ञा देते हुए अपभ्रंश के सारे कवियों को हिन्दी के कवियों के रूप में स्वीकार किया है। अगर राहुल सांकृत्यायन के मत को स्वीकार कर लेते हैं तो हिन्दी साहित्य का आरंभ सातवीं शताब्दी से ही सिद्ध हो जाता है और उस स्थिति में अपभ्रंश के सबसे पहले कवि सरहपाद ही हिन्दी के पहले कवि सिद्ध होते हैं। इधर कुछ वर्षों पहले डॉ. नगेन्द्र के द्वारा सम्पादित इतिहास में भी सरहपाद को हिन्दी का पहला कवि माना गया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दी के विद्वानों के मुख्यतः दो वर्ग हैं:

1 एक वर्ग में वे विद्वान आते हैं जो हिन्दी और अपभ्रंश को एक मानते हुए हिन्दी का आरंभ सातवीं शताब्दी से स्वीकार करते हैं।

2 दूसरे वर्ग में वे विद्वान आते हैं जो कि अपभ्रंश को हिन्दी से अलग मानते हुए दसवीं

शताब्दी के बाद से हिन्दी साहित्य का आरंभ मानते हैं।
परन्तु अब इस बात का निर्णय हो गया है कि अपभ्रंश और हिंदी दोनों एक भाषा नहीं है। निश्चय ही अपभ्रंश हिन्दी की जननी है। उससे न केवल हिन्दी, अपितु उत्तर भारत की और भी कई भाषाएँ जैसे पंजाबी, गुजराती, मराठी, बंगला आदि विकसित हुई हैं। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने भी इस मत का दृढ़ता से खण्डन किया है कि हिन्दी और अपभ्रंश एक हैं, अस्तु अब भाषा विज्ञान और साहित्य के क्षेत्र के प्रायः सभी विद्वानों ने यह मत स्वीकार कर लिया है कि अपभ्रंश और हिन्दी एक नहीं है, अपितु अलग-अलग भाषाएँ हैं। अतः आचार्य रामचंद्र शुक्ल और आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के इस मत को स्वीकार कर लेना चाहिए कि हिन्दी भाषा और साहित्य का आरम्भ दसवीं शताब्दी से हुआ है। दसवीं से चौदहवीं शताब्दी तक का साहित्य अपभ्रंश से भिन्न भाषा का साहित्य है। वस्तुतः इसमें हिन्दी की आधुनिक बोलियों के पूर्वरूप की झलक मिल जाती है। इसी कारण हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखक दसवीं शताब्दी से हिन्दी साहित्य का आरम्भ स्वीकार करते हैं।

2.4.1 हिन्दी साहित्य के कालविभाजन के विभिन्न प्रयास

हिन्दी साहित्येतिहास के कालविभाजन का प्रथम श्रेय जार्ज ग्रियर्सन को जाता है। इसके बाद मिश्रबंधुओं, रामचंद्र शुक्ल और हजारी प्रसाद द्विवेदी ने हिन्दी साहित्य का काल-विभाजन का प्रयत्न किया है। इनके अतिरिक्त भारतीय हिंदी परिषद (डॉ. धीरेन्द्र वर्मा द्वारा सम्पादित) और डॉ. गणपतिचन्द्र गुप्त ने भी कालविभाजन का प्रयत्न किया है। आइए, विभिन्न विद्वानों द्वारा किए गये कालविभाजन पर एक नजर डालें।

जार्ज ग्रियर्सन द्वारा किया गया कालविभाजन

(क) चारण काल (700 ई. से 1300 ई. तक) (ख) पन्द्रहवीं शती का धर्मिक पुनर्जागरण (ग) जायसी की प्रेम कविता (घ) कृष्ण सम्प्रदाय (ड) मुगल दरबार (च) तुलसीदास (छ) प्रेमकाव्य (ज) तुलसीदास के अन्य परवर्ती (झ) अठारहवीं शताब्दी (ञ) कम्पनी के शासन में हिन्दुस्तान (ट) विक्टोरिया के शासन में हिन्दुस्तान।

जार्ज ग्रियर्सन के कालविभाजन में व्यवस्था का अभाव दिखलायी पड़ता है। सबसे पहली बात तो यह है कि इसमें साहित्यिक प्रवृत्ति को आधार नहीं बनाया गया है। मुगल दरबार, अठारहवीं शताब्दी, कम्पनी के शासन में हिन्दुस्तान आदि के आधार पर किया गया विभाजन किसी साहित्यिक परिवर्तन का संकेत नहीं देते।

निश्चय ही, हिंदी साहित्य के कालविभाजन के प्रथम प्रयास के रूप में इसका अपना महत्व है, पर इस कालविभाजन को स्वीकार नहीं किया जा सकता।

मिश्रबंधुओं द्वारा किया गया कालविभाजन

1	आरम्भिक काल	क	पूर्व आरम्भिक काल–सं. 700 से 1343 (643 ई. से 1286 ई.)
		ख	उत्तर आरम्भिक काल–सं. 1343 से 1444 (1287 ई. से 1387 ई.)
2	माध्यमिक काल	क	पूर्व माध्यमिक काल–सं. 1445 से 1560 (1388 ई. से 1503 ई.)
		ख	प्रौढ़ माध्यमिक काल–सं. 1561 से 1680 (1504 ई. 1624 ई.)
3	अलंकृत काल	क	पूर्व अलंकृत काल–सं. 1681 से 1790 (1624–1733 ई.)
		ख	उत्तर अलंकृतकाल–सं. 1791 से 1889 (1734 ई. से 1832 ई.)
4	परिवर्तन काल		सं. 1890 से 1925

		(1833 ई. सं 1868 ई.)
5	वर्तमान काल	सं. 1926 से आगे (1869 ई. से आगे)

मिश्रबंधुओं ने "मिश्रबंधु विनोद" में कालविभाजन को व्यवस्थित करने का प्रयत्न किया है। मिश्रबंधुओं ने व्यवस्था के नाम पर हिंदी के कालखंडों को उपकाल खंडों में विभक्त किया है। इससे स्पष्टता आने के बजाय एक भ्रम पैदा हो गया है। सभी कालों को उन्होंने दो उपखंडों में विभक्त किया, जिसका कोई ठोस आधार दिखाई नहीं पड़ता। माध्यमिक काल को दो हिस्सों में बाँटने की कोई जरूरत नहीं है, क्योंकि इस काल में एक ही साहित्यिक प्रवृत्ति (भक्ति भावना) की प्रधानता रही। यही बात अलंकृतकाल के लिए भी कही जा सकती है।

इस विभाजन को भी विद्वानों ने स्वीकार नहीं किया है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल द्वारा किया गया कालविभाजन

1	वीरगाथा काल	सं. 1050 से 1375 (993 ई. से 1318 ई.)
2	भक्तिकाल	1375 ई. से 1700 सं. (1318 से 1643 ई.)
3	रीतिकाल	सं. 1700 से 1900 (1643 ई. से 1843 ई.)
4	आधुनिक काल	सं. 1900 से अब तक (1843 ई. से अब तक)

हजारी प्रसाद द्विवेदी द्वारा किया गया कालविभाजन

1	आदिकाल	सन् 1000 ई. से 1400 ई.
2	पूर्व मध्यकाल	सन् 1400 ई. से 1700 ई.
३	उत्तर मध्यकाल	1700 ई. से 1900 ई.
4	आधुनिक काल	सन् 1900 से अब तक

परवर्ती इतिहासकारों द्वारा किया गया कालविभाजन

1	आदिकाल	1000 ई. से 1400 ई.
2	मध्यकाल	1400 ई. से 1900 ई.
3	आधुनिक काल	1900 ई. से अब तक

कालविभाजन के इन सभी प्रयत्नों में आचार्य रामचंद्र शुक्ल और हजारी प्रसाद द्विवेदी का मत सर्वाधिक मान्य है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने प्रवृत्तियों को आधार बनाकर कालों का सुव्यवस्थित विभाजन किया है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने रामचंद्र शुक्ल के विभाजन को ही स्वीकार किया है पर संवत् के स्थान पर ईसवी सन् का प्रयोग कर उन्होंने काल विभाजन को और व्यवस्थित कर दिया है। इसके अतिरिक्त द्विवेदी जी ने पूरी शताब्दी को हिंदी साहित्य के कालविभाजन का आधार बनाया है।

डॉ. धीरेंद्र वर्मा तथा अन्य सहयोगियो द्वारा सपादित भारतीय हिंदी परिषद के इतिहास में केवल तीन युगों की कल्पना की गयी है—आदिकाल, मध्यकाल और आधुनिक काल। डॉ. गणपति चन्द्र गुप्त ने भी इसी विभाजन को स्वीकार किया है। उनका मानना है कि मध्यकालीन चेतना कमोबेश एक-ही रही है। सन्तकाव्य, प्रेमाख्यानक काव्य, रामकाव्य

कृष्णकाव्य, वीरकाव्य,रीतिकाव्य की धाराएँ पूरे मध्यकाल में प्रवाहित होती रहीं। पर यह मत भी विद्वानों द्वारा मान्य नहीं है। यह ठीक है कि संतकाव्य, प्रेमाख्यानक काव्य, रामकाव्य, कृष्णकाव्य आदि धाराएँ पूरे मध्यकाल में प्रवाहित होती रहीं, पर सत्रहवीं शताब्दी के आते-आते मुख्य प्रवृत्ति बदल गयी थी। भक्ति के स्थान पर अलंकरण और शृंगार विलास की प्रधानता हो गयी। काव्य लिखने का ढंग बदल गया था। इससे काव्य की चेतना और काव्य के रूप में भी स्पष्ट अन्तर आ गया। अतः मध्यकाल को प्रवृत्तियों के आधार पर दो कालों में विभाजित करना जरूरी हो गया।

आधुनिक काल का आरम्भ उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य से माना जाता है। 1857 की क्रांति भारतीय इतिहास की एक बड़ी घटना है। वस्तुतः यह क्रांति मध्य युग की समाप्ति और आधुनिक युग के आरम्भ का उद्घोष है। पश्चिमी ज्ञान विज्ञान से भारतीय जनता का सम्पर्क और संघर्ष हुआ, फलतः आधुनिक युग का जन्म हुआ। नयी तकनीकों के वैज्ञानिक आगमन के कारण गद्य साहित्य का तेजी से विकास हुआ। राष्ट्रीय आंदोलन अपने नये तेवर के साथ सामने आया। इससे हिंदी साहित्य प्रभावित हुआ। 1900 से 1920 तक के साहित्य में राष्ट्रीयता का स्वर उभर कर सामने आया, 1920 से 1936 तक गांधी और रवीन्द्रनाथ ठाकुर का प्रभाव साहित्य पर पड़ा। एक आदर्शवाद और रोमानीयत का प्रस्फुटन काव्य के माध्यम से हुआ, जिसे छायावाद के नाम से जाना जाता है। 1936 ई. में प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना के बाद प्रगतिवाद का जोर साहित्य में बढ़ा। इसमें कवियों का समाजवादी रुझान सामने आया। इसके बाद तरसप्तक का प्रकाशन (सन् 1943) हिंदी साहित्य में एक नये मोड़ के रूप में आया, जिसे प्रयोगवाद के नाम से भी जाना जाता है। इसके बाद साहित्यकाल कई बार युग परिवर्तन की घोषणा कर चुका है, पर उस विस्तार में जाना हमारा उद्देश्य नहीं है।

हिंदी साहित्य के कालविभाजन को नीचे एक तालिका के रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है।

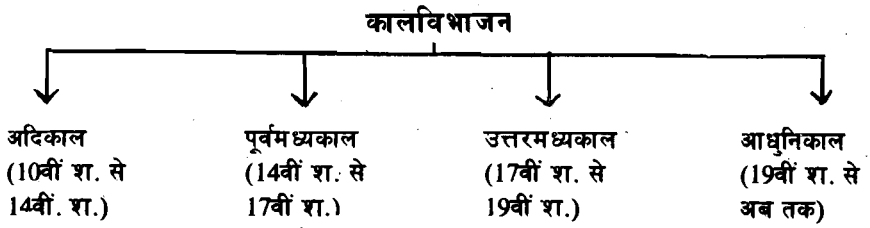

यही कालविभाजन हिंदी साहित्य के इतिहासकारों के बीच मान्य है।

2.5 नामकरण संबंधी विवाद

कालविभाजन के समान कालों के प्रथम नामकरण का श्रेय ग्रियर्सन को है। इसके बाद मिश्रबंधुओं ने कालों का नामकरण किया, तत्पश्चात् रामचंद्र शुक्ल, हजारी प्रसाद द्विवेदी और अन्य परवर्ती इतिहासकारों ने। हम अलग-अलग कालों के नामकरण पर अलग-अलग विचार करेंगे।

2.5.1 आदिकाल

सबसे पहले 10वीं श. से 14वीं श. के कालखंड को लें, जिसमें हिंदी का प्रारंभिक साहित्य लिखा गया। विभिन्न विद्वानों ने इसका नामकरण इस प्रकार किया है–

	इतिहासकार	नामकरण
1	ग्रियर्सन	चारणकाल
2	मिश्रबंधु	प्रारम्भिक काल
3	रामचंद्र शुक्ल	आदिकाल

4	राहुल सांकृत्यायन	सिद्ध सामन्त युग
5	महावीर प्रसाद द्विवेदी	बीजवपन काल
6	विश्वनाथ प्रसाद मिश्र	वीर काल
7	हजारी प्रसाद द्विवेदी	आदिकाल
8	रामकुमार वर्मा	संधिकाल एवं चारणकाल

हिंदी साहित्येतिहास के विभिन्न कालों का नामकरण करने का प्रथम श्रेय ग्रियर्सन को जाता है। उन्होंने हिंदी साहित्येतिहास के आरंभिक काल का चारण काल के रूप में नामकरण किया; पर इस नाम के पक्ष में वे कोई ठोस तर्क नहीं उपस्थित कर पाए। वे हिंदी साहित्य के इतिहास की शुरुआत 643 ई. से करते हैं, पर उस समय किसी चारण रचना या चारण प्रवृत्ति का उल्लेख वे नहीं कर सके हैं। वस्तुतः इस प्रकार की रचनाएँ 1000 ई. तक मिलती ही नहीं हैं अतः ग्रियर्सन द्वारा किया गया नामकरण अनुपयुक्त प्रतीत होता है।

ग्रियर्सन के बाद मिश्रबंधुओं ने 643 इ. से 1387 ई. तक के काल को प्रारम्भिक काल कहा। यह एक सामान्य संज्ञा है और इसमें किसी प्रवृत्ति को आधार नहीं बनाया गया है। उन्होंने अपने ग्रंथ **मिश्रबंधु विनोद** में हिंदी भाषा को आधार बनाते हुए इस काल खंड विशेष को 'पूर्व प्रारम्भिक हिंदी', (643 ई. से 1290 ई.), 'चंद्रपूर्व की हिंदी' (643 ई. से 1143 ई.), 'रासो काल' (1143 ई. से 1290 ई.) 'उत्तर आरम्भिक हिंदी' (1291 ई. से 1387 ई.) आदि नाम दिए हैं। पर इनमें से कोई भी नाम इस सम्पूर्ण काल खंड का प्रतिनिधित्व नहीं करता है।

मिश्रबंधुओं के बाद आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने हिंदी साहित्येतिहास के इस काल खंड का नाम वीरगाथा काल रखा। वीरगाथा काल नामकरण का आधार स्पष्ट करते हुए शुक्ल जी लिखते हैं:

"....आदिकाल की इस दीर्घ परम्परा के बीच प्रथम डेढ़ सौ वर्ष के भीतर तो रचना की किसी विशेष प्रवृत्ति का निश्चय नहीं होता है– धर्म, नीति, शृंगार, वीर सब प्रकार की रचनाएँ दोहों में मिलती है। इस अनिर्दिष्ट लोक प्रवृत्ति के उपरान्त जब से मुसलमानों की चढ़ाइयों का आरम्भ होता है तब से हम हिन्दी साहित्य की प्रवृत्ति एक विशेष रूप में बंधती हुई पाते हैं। राजाश्रित कवि अपने आश्रयदाता राजाओं के पराक्रमपूर्ण चरितों या गाथाओं का वर्णन करते थे। यही प्रबंध परम्परा रासो के नाम से पायी जाती है, जिसे लक्ष्य करके इस काल को हमने वीरगाथा काल कहा है।"[1] आचार्य शुक्ल ने जिन बारह पुस्तकों के आधार पर आदिकाल का विवेचन तथा नामकरण किया, वे इस प्रकार है:

1	विजयपाल रासो	2	हम्मीर रासो
3	कीर्तिलता	4	कीर्तिपताका
5	खुमान रासो	6	बीसलदेव रासो
7	पृथ्वीराज रासो	8	जयचन्द्र प्रकाश
9	जयमयंक जसचंद्रिका	10	परमाल रासो
11	खुसरो की पहेलियाँ और	12.	विद्यापति पदावली

वे लिखते हैं कि "इन्हीं बारह पुस्तकों की दृष्टि से आदिकाल का लक्षण निरूपण और नामकरण हो सकता है। इनमें से अंतिम दो तथा बीसलदेव रासो को छोड़कर शेष सब ग्रंथ वीरगाथात्मक हैं। अतः आदिकाल का नाम वीरगाथा काल ही रखा जा सकता है।"

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने जिन बारह पुस्तकों के आधार पर इस काल की प्रवृत्तियों का विवेचन और नामकरण किया है उनमें कई बाद की रचनाएँ हैं और कई नोटिस मात्र हैं

---

1 हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ. 4-5

और कई पुस्तकों के बारे में यह कहना मुश्किल है कि उनका मूलरूप क्या था। मसलन नये शोधों के आधार पर 'खुमान रासो' और 'बीसलदेव रासो' को 16वीं शताब्दी में रचित माना गया है। 'हम्मीर रासो' को नोटिस मात्र समझा सकता है; अर्थात् यह ग्रंथ प्राप्त नहीं हुआ, इसकी सूचना दूसरे ग्रथों में मिलती है। इसी प्रकार प्रसिद्ध महाकाव्य पृथ्वीराज रासो को अर्धप्रमाणिक रचना मान लिया गया है। अतः केवल इन पुस्तकों के आधार पर वीरगाथा काल नाम दे देना उचित प्रतीत नहीं होता। इसके अतिरिक्त इस काल में वीरकाव्य ही नहीं लिखे गये, बल्कि धार्मिक शृंगारिक और लौकिक साहित्य की रचना हुई। 'वीरगाथा काल' नामकरण के कारण इन प्रवृत्तियों की उपेक्षा हो जाती है।

राहुल सांकृत्यायन ने विवेच्य काल को 'सिद्ध सामन्त काल' कहा है। यह नाम केवल दो वर्गों की ओर संकेत करता है: सिद्ध और सामन्त। सिद्ध जहाँ रचनाकार थे.वहीं सामन्त रचना प्रेरक। राहुल जी ने जो यह संयोग बनाया है, वह भी तर्कसंगत नहीं है। इसके अतिरिक्त यह कई प्रवृत्तियों को नजरअंदाज कर देता है। नाथपंथी और हठ्योगी कवियों तथा खुसरों आदि की काव्य प्रवृत्तियों का इस नाम में समावेश नहीं होता। इसलिए यह नाम भी मान्य नहीं है।

विश्वनाथ प्रसाद मिश्र द्वारा दिया गया नाम वीरकाल शुक्ल जी के नामकरण का रूपान्तर हैं। इसमें कोई मौलिकता नहीं है।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी दसवीं से चौदहवीं शताब्दी तक काल खंड को आदिकाल कहना पसन्द करते हैं। उन्होंने आदिकाल के अन्तर्गत धार्मिक रचनाओं का भी समावेश किया है। उनका तर्क है कि यदि इस काल की धार्मिक रचनाओं को साहित्य का अंग न माना गया तो भक्तिकाल की सम्पूर्ण सम्पदा से हमें हाथ धोना पड़ेगा। इसके अतिरिक्त इस समय और भी कई प्रवृत्तियों का जन्म और विकास हो रहा था, जैसे शृंगार काव्य, लौकिक काव्य आदि। वीरगाथात्मक काव्य से अलग काव्य प्रवृत्तियाँ भी जनता की चित्तवृत्ति का ही प्रतीक है, अतः आदिकाल का नामकरण करते समय उनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती।

डॉ. रामकुमार वर्मा ने आदिकाल को दो खंडों में विभाजित कर दिया है -संधिकाल और चारणकाल। संधिकाल भाषा की ओर संकेत करता है और चारणकाल से एक वर्ग विशेष का बोध होता है। इस नामकरण की कमजोरी यह है कि इसमें किसी प्रवृत्ति को आधार नहीं बनाया गया है। अतः यह नामकरण भी विद्वानों के बीच मान्य नहीं है।

वस्तुतः 'आदिकाल' ही ऐसा नाम है, जिसपर इतिहासकार किसी न किसी रूप में सहमत हैं। इस नाम से उस व्यापक पृष्ठभूमि का बोध होता है, जिसपर आगे आने वाले साहित्य का विशाल स्वरूप आधारित है। भाषा की दृष्टि से हम इस काल में हिन्दी के आदिरूप की झलक पाते हैं, इसके अतिरिक्त हिन्दी साहित्य की सभी प्रमुख प्रवृत्तियों के आदिम बीज की खोज इस काल में की जा सकती है। परवर्ती साहित्य की विभिन्न शैलियों और काव्य रूपों का आदि रूप भी इस काल के साहित्य में प्राप्त हो जाता है। इस काल की आध्यात्मिक शृंगारिक तथा वीरता आदि प्रवृत्तियों का विकास परवर्ती साहित्य में हुआ। अतः आदिकाल सर्वाधिक उपयुक्त और व्यापक नाम है।

2.5.2 भक्तिकाल

चौदहवीं शती के मध्य से सत्रहवीं शती के मध्य तक के कालखंड को हिन्दी साहित्य के इतिहास में "भक्तिकाल" के नाम से जाना जाता है। हिंदी साहित्य के इस काल खंड का नामकरण का श्रेय आचार्य रामचंद्र शुक्ल को है। कुछ विद्वान इस कालखंड को "पूर्व मध्यकाल" कहने के पक्ष में भी हैं। हिंदी साहित्येतिहास लेखन में ये दोनों नाम एक साथ चलते हैं, पर "भक्तिकाल" नाम अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। यह उस प्रवृत्ति की ओर संकेत करता है; जो इस काल में सर्वाधिक प्रबल थी। "पूर्व मध्यकाल" कहने से यह पता नहीं चलता है कि उस कालविशेष में किस प्रकार का साहित्य लिखा जा रहा था. उस युग की साहित्यिक प्रवृत्ति क्या थी अगर आदिकाल के समान इस काल में भी कोई प्रवत्ति प्रमुख न होती, तो "पूर्व मध्यकाल" नाम से काम चलाया जा सकता था। पर इस काल की प्रमुख प्रवृत्ति "भक्ति" बिलकुल स्पष्ट है।

2.5.3 रीतिकाल

हिन्दी साहित्य के उत्तर मध्यकाल का समय लगभग सन् 1643 ई. से सन 1843 ई. तक फैला हुआ है। इस काल के नामकरण पर भी विद्वानों के बीच मतभेद है। मिश्रबंधुओं ने इसे अलंकृत काल कहा है, रामचंद्र शुक्ल ने "रीतिकाल", रमाशंकर शुक्ल "रसाल" ने **"कला काल" और विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने "श्रृंगार काल" की संज्ञा दी है।**

डॉ. ग्रियर्सन ने सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दी की रचनाओं को "दि आर्स पोयटिका" की सँज्ञा दी है। लैटिन भाषा में इस शब्द का अर्थ "काव्य कला" होता है। ग्रियर्सन ने हिन्दी रीति परम्परा की समस्त रचनाओं में व्याप्त जिस विशिष्ट कलात्मक प्रवृत्ति की ओर संकेत किया है, उससे लगता है कि उन्होंने इस युग की श्रृंगारिक एवं काव्य कला से संपृक्त रचनाओं के आधार पर ही इसे 'काव्य-कला युग' कहना सही समझा होगा; पर काव्य कला के युग के नामकरण का स्पष्ट विश्लेषण उन्होंने कहीं नहीं किया।

मिश्रबंधुओं का विवेच्य काल को "अलंकृत काल" कहा जाता है। पर 'अलंकृत काल' नाम को स्वीकार कर लेने से इस युग की मुख्य प्रवृत्ति श्रृंगार और शास्त्रीयता की पूर्ण उपेक्षा हो जाती है। इसके अतिरिक्त कवियों की प्रवृत्ति केवल अलंकार युक्त रचनाएँ करने की नहीं थी, उन्होंने इसकी अपेक्षा रस पर अधिक बल दिया है। आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र कहते हैं कि मिश्रबंधुओं ने यहां "अंलकार" शब्द का प्रयोग काव्य निरूपण प्रवृत्ति के लिए किया है। पर मिश्रबंधुओं ने "अलंकृत" शब्द का प्रयोग काव्य के लिए किया है न कि रीति के लिए और दूसरी बात यह है कि इस काल तक आते- आते अलंकार एक काव्यांग विशेष के लिए रूढ़ हो चुका था।

हम पहले बता चुके हैं कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इस काल को "रीतिकाल" कहा है। इस नाम को सभी विद्वानों ने लगभग एकमत से स्वीकार किया है। रामचंद्र शुक्ल की "रीति" वामन की "रीति" से भिन्न है। वामन ने जहाँ इसे "विशिष्ट पद रचना शैली" कहा, आचार्य शुक्ल ने इसका प्रयोग तत्कालीन लिखित लक्षण ग्रंथों के लिए किया। आचार्य शुक्ल ने वामन की "रीति" के कुछ अंशों को ग्रहण करते हुए भी रीति को केवल एक प्रकार न मानकर एक दृष्टिकोण माना। इसलिए उनके अनुसार जिसने लक्षण ग्रंथों की रचना की हो, वही रीति कवि नहीं है, बल्कि जिस कवि का दृष्टिकोण रीतिबद्ध हो उसे भी रीति काव्य के अन्तर्गत रखा जा सकता है।

आपने ऐच्छिक पाठ्यक्रम-2 के अंतर्गत यह पढ़ा होगा कि इस काल में लक्षण ग्रंथ लिखने की होड़ सी मच गयी थी। सभी कवियों ने प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से इसी ढर्रे पर रचना की है। लगभग सभी कवियों की रचना रीतिबद्ध थी, कुछ भक्त कवियों (घनानन्द आदि) को छोड़कर।

अतः आचार्य शुक्ल को "रीतिकाल" नामकरण करने में किसी प्रकार की कठिनाई नहीं हुई।

डॉ. रमाशंकर शुक्ल "रसाल" ने रीतिकाल को "कला काल" का नाम दिया। रसाल जी द्वारा दिए गये इस नाम से स्पष्ट है कि वे ग्रियर्सन और मिश्रबंधुओं द्वारा दिए गये नामों की सीमा से आगे नहीं बढ़ सके। वस्तुत "कला काल" से रीतिकाल के काव्य के बहिरंग पक्ष का ही स्वरूप स्थिर हो पाता है और उससे उस युग की व्यापक श्रृंगारिक चेतना की प्रायः अवमानना हो जाती है।

पं. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने इस काल को "श्रृंगार काल" कहना अधिक उपयुक्त समझा। उनके विचार से "रीति" शब्द काव्य के बहिरंग का बोधक है; रीतिकाव्य की आत्मा श्रृंगार है जिसका प्रवाह 17वीं शताब्दी के मध्य से 19वीं शताब्दी तक होता रहा रीतिकाल में अन्य प्रवृत्तियाँ भी सामने आयीं पर श्रृंगार के समक्ष टिक न सकीं। बोलबाला श्रृंगार का ही रहा।

वस्तुतः हिंदी साहित्य के उत्तर मध्यकाल में रीतिग्रंथों का ही बोलबाला रहा। इस काल की रचनाओं में यदि श्रृंगारिक छंदों का समावेश हुआ, तो उसका मुख्य कारण इसकी श्रृंगारिक प्रवृत्ति के स्थान पर विलासी आश्रयदाताओं को प्रसन्न करने के अतिरिक्त शास्त्र के इस रूढ़ विषय को सरस बनाने का प्रयत्न ही कहना चाहिए। यदि कवि श्रृंगार वर्णन को ही उद्देश्य समझते, तो लक्षण के बन्धनों में अपनी रचनाओं को उलझाकर कहीं-कहीं दूषित अथवा कवित्वहीन न कर बैठते।

विवेच्य काल के लिए दो ही नाम उपयुक्त जँचते हैं। (रीतिकाल 2) शृंगारकाल प्रवृत्ति की दृष्टि से रीतिकाल और विषय की दृष्टि से शृंगार काल। आचार्य शुक्ल ने भी "शृंगार काल" नामकरण के संदर्भ में विशेष आपत्ति नहीं उठाई है। पर समग्रता की दृष्टि से "रीतिकाल" "शृंगारकाल" की अपेक्षा अधिक सटीक लगता है और विद्वानों के बीच यह मान्य भी हुआ है।

2.5.4 आधुनिक काल

हिंदी साहित्येतिहास का अंतिम कालखंड आधुनिक काल से जाना जाता है। आधुनिक शब्द दो अर्थों को अपने में लपेटे हुए है। एक है मध्यकाल से भिन्नता और दूसरा है इहलौकिक दृष्टिकोण। मध्यकाल अपने अवरोध, जड़ता और रूढ़िवादिता के कारण स्थिर और रूढ़ हो चुका था। 1857 का विद्रोह मध्ययुग की जड़ता की समाप्ति और आधुनिक युग के आरंभ का उद्घोष था। सामन्तवादी शक्तियाँ अपनी सारी शक्ति लगाकर समाप्त हो गयीं और देश के प्रबुद्ध वर्ग ने नये सिरे से सोचना आरंभ किया। इसी प्रकार रीतिकाल में साहित्य अपने कथ्य और शैली की दृष्टि से रूढ़ हो चुका था। आधुनिक काल ने इस जड़ता को खंडित किया और जीवन की धारा विविध स्रोतों में फूट निकली। साहित्य मनुष्य के सुख-दुख के साथ जुड़ गया।

आधुनिक युग में सोचने विचारने का दृष्टिकोण सांसारिक हो गया और धर्म, दर्शन, साहित्य, चित्र आदि के प्रति नया दृष्टिकोण सामने आया। इस काल में सुधार, परिष्कार और अतीत की व्याख्या नये ढ़ंग से की गयी। इस ऐतिहासिक प्रक्रिया में साहित्य की भाषा भी बदली और ब्रजभाषा का स्थान खड़ी बोली ने ले लिया।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने आधुनिक काल को गद्य और काव्य को दो खंडों में बाँट दिया। दोनों खंडों को पुनः दो प्रकरणों में बाँटा गया। गद्य के पहले प्रकरण में ब्रजभाषा और खड़ी बोली गद्य का विवेचन किया गया है और दूसरे खंड में गद्य साहित्य का उद्भव निरूपित किया गया है। इसे फिर तीन उत्थानों प्रथम, द्वितीय और तृतीय में विभाजित किया गया है। काव्य खंड में भी दो प्रकरण हैं—पुरानी और नयी काव्यधारा। गद्यखंड की तरह इसमें भी नयी काव्यधारा के तीन उत्थान हैं।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल के इस विभाजन में एकरूपता और समानता का अभाव है। ये खंड एक दूसरे में अलग प्रतीत होते हैं। उदाहरणार्थ काव्य खंड के दूसरे प्रकरण के तृतीय उत्थान (छायावाद) तथा गद्यखंड के द्वितीय प्रकरण के तृतीय उत्थान (छायावाद) तथा गद्यखंड के द्वितीय प्रकरण के तृतीय उत्थान में एकरूपता नहीं है। इससे इतिहास का नैरन्तैर्य बाधित हुआ है।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने इस कालखंड को "गद्यखंड" कहा है। यह सही है कि आधुनिक तकनीकों के कारण इस युग में गद्य साहित्य तेजी से विकसित हुआ और खासकर प्रेस ने साहित्य को प्रजातांत्रिक रूप दिया। समाचार पत्र, उपन्यास, आधुनिक ढंग के निबंध, कहानियाँ, प्रेस के प्रचार के बाद ही तेजी से आगे बढ़ीं। पर इस युग का नाम अगर 'गद्य काल' रख दिया जाए, तो वह काव्य प्रवृत्ति बिल्कुल छूट जाएगी, जो आधुनिक विचारों से ओत-प्रोत है। इसलिए हमें इस काल का आधुनिक काल नाम ही अधिक उचित प्रतीत होता है। आधुनिक काल को भी कई कालखंडों में विभाजित किया जा सकता है, जैसे—

1	पुनर्जागरण काल (भारतेंदु काल)	1857-1900 ई.
2	जागरण सुधार काल (द्विवेदी काल)	1900-1918 ई.
3	छायावाद काल	1918-1936 ई.
4	छायावादोत्तर काल	
	(क) प्रगात-प्रयोग काल	1936-1950 ई.
	(ख) नवलखन काल	1950 ई. से अब तक

पुनर्जागरण काल/भारतेन्दु काल

1857 से 1900 तक के काल को पुनर्जागरण काल या भारतेन्दु काल के नाम से जाना जाता है। दोनों ही नाम हिन्दी साहित्य के इतिहास में प्रयुक्त होते हैं। यह काल

राष्ट्रीय-सांस्कृतिक पुनर्जागरण का समय है। राजा राममोहन राय, केशव चंद्र सेन, दयानन्द सरस्वती, विवेकानन्द आदि के कारण एक नयी राष्ट्रीय-सांस्कृतिक चेतना का जन्म हुआ। इसका सीधा प्रभाव साहित्य पर पड़ा। साहित्य नये दृष्टिकोण से संपृक्त हुआ और मध्यकालीन जड़ता को उसने पूरी तरह तोड़ दिया। इस दृष्टि से इस काल खंड को पुनर्जागरण काल कहा जाता है।

आप जानते हैं कि नामकरण करते समय ऐसे व्यक्ति को आधार बनाया जा सकता है, जिससे उस कालखंड का इतिहास प्रभावित हो। इस कालखंड में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र पूरे हिन्दी साहित्य पर छाये रहे। उन्होंने हिन्दी गद्य को भाषा और विधा की दृष्टि से एक नयी दिशा दी। मध्ययुगीन वातावरण से जीवन और साहित्य को निकालकर उन्हें आधुनिक रूप प्रदान करने की उन्होंने सतत चेष्टा की। भाषा, भाव, साहित्यिक रूप आदि की दृष्टि से उन्होंने गद्य और काव्य क्षेत्रों में हिन्दी भाषियों का नेतृत्व किया। उनके व्यक्तित्व का प्रतिबिम्ब अन्य कवियों और लेखकों की रचनाओं में बराबर मिलता है। अतः इस काल का नामकरण "भारतेन्दु काल" उपयुक्त है।

जागरण सुधार काल/द्विवेदी काल (1900-1918)

हिन्दी कविता को राष्ट्रीयता, प्रगति और स्वच्छन्दता में जोड़ने का प्रमुख कार्य इस काल में हुआ। इस युग का नामकरण महावीर प्रसाद द्विवेदी के नाम पर "द्विवेदी काल" किया गया है। 1903 में "सरस्वती" का सम्पादकत्व ग्रहण करने के बाद उन्होंने खड़ी बोली का परिष्कार आरंभ किया। उन्होंने अनेक कवियों और लेखकों का मार्ग निर्देशन किया। समकालीन कवियों और लेखकों पर उनकी अमिट छाप पड़ी। खुद द्विवेदी जी एक कुशल लेखक, समालोचक और सफल सम्पादक थे। जिस प्रकार भारतेन्दु हरिश्चन्द ने हिन्दी भाषा और साहित्य को एक दिशा दिखायी, उसी प्रकार महावीर प्रसाद द्विवेदी ने हिन्दी भाषा का परिष्कार कर उसे एक मानक रूप दिया। इन्ही कारणों से इस काल को 'द्विवेदी युग' कहा जाता है।

राष्ट्रीय, सांस्कृतिक और साहित्यिक आधार पर इस काल को जागरण सुधार काल भी कहा जाता है। इस काल में साहित्य के कथ्य और भाषा में सुधार और परिष्कार हुआ। इसके अतिरिक्त इस काल में राष्ट्रीय-सांस्कृतिक स्तर पर भी जागरण सुधार की दिशा में प्रगति हुई। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में समाज और संस्कृति को पुनरुत्थान की जो प्रक्रिया आरंभ हुई थी, उसे आलोच्य काल में बाल गंगाधर तिलक, गोपाल कृष्ण गोखले, लाला लाजपतराय आदि नेताओं ने आगे बढ़ाया और अपनी परम्परा और संस्कृति को गौरव प्रदान करने की चेष्टा की। इसका भी असर साहित्य पर पड़ा। इस दृष्टि से इस काल को "जागरण सुधार काल" कहा जाता है।

छायावादी काल (1918-1936)

द्विवेदी युग के बाद का समय छायावाद काल के नाम से जाना जाता है। छायावाद आधुनिक हिन्दी कविता की उस धारा का नाम है, जो 1918 ई. के बाद प्रस्फुटित हुई। नामवर सिंह के अनुसार "छायावाद विशेष रूप से हिन्दी साहित्य के "रोमांटिक" उत्थान की वह काव्यधारा है जो लगभग ई. सन् 1918 से 1936 (उच्छवास से युगान्त) तक की प्रमुख युगवाणी रही, जिसमें प्रसाद, निराला, पंत, महादेवी, प्रभृति मुख्य कवि हुए और सामान्य रूप से भावोच्छवास-प्रेरित स्वच्छन्द कल्पना-प्रवृत्ति की वह "स्वच्छंद" प्रवृत्ति है जो देश-काल-गत-वैशिष्टय के साथ संसार की सभी जातियों के विभिन्न उत्थानशील युगों की आशा-आकांक्षा में निरंतर व्यक्त होती जा रही है। स्वच्छंदता की उस सामान्य भाव-धारा की विशेष अभिव्यक्ति का नाम हिन्दी साहित्य में छायावाद पड़ा।"[1]

छायावाद का नामकरण कैसे हुआ, इस संबंध में विद्वान एकमत नहीं है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल का विचार था कि बंगला में आध्यात्मिक प्रतीकवादी रचनाओं को छायावाद कहा जाता था, जिसके अनुकरण में हिन्दी में यह नाम चल पड़ा। लेकिन हजारी प्रसाद द्विवेदी का मानना है कि बंगला में "छायावाद" नाम कभी प्रचलित नहीं था। सन 1920 में जबलपुर से प्रकाशित "श्री शारदा" नामक पत्रिका के जुलाई, सितम्बर, अक्टूबर, और

1 आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ, प्र. 2

नवम्बर, 1920 के अकों में "हिन्दी में छायावाद" शीर्षक से पं. मुकुटधर पांडेय के चार लेख प्रकाशित हुए। इससे यह स्पष्ट है कि 1920 से पूर्व "छायावाद" का नाम चल पड़ा था। इन लेखों से यह स्पष्ट है कि पांडेय जी छायावादी काव्य की अस्पष्टता (छाया) के लिए "छायावाद" नाम का प्रयोग किया था; यह नाम आगे चलकर सबने अपना लिया।

प्रगति-प्रयोग काल (1936-1953)

छायावाद युग के बाद 1936 के आसपास नवीन सामाजिक चेतना से युक्त जिस साहित्यधारा का जन्म हुआ उसे प्रगतिवाद की संज्ञा दी गई। प्रगतिशील साहित्य प्रोग्रेसिव लिटरेचर का हिन्दी अनुवाद है। अँग्रेजी साहित्य में इस शब्द का प्रचार 1935 ई. के आसपास हुआ, जब ई.एम. फार्स्टर के नेतृत्व में पेरिस में "प्रोग्रेसिव राइटर्स ऐसोसिऐशन" की स्थापना हुई। 1936 ई. में भारत में इसी तर्ज पर डॉ. मुल्कराज आनन्द और सज्जाद जहीर के उद्योग से "प्रगतिशील" लेखक संघ की स्थापना हुई। इसके प्रथम अधिवेशन में प्रगतिशील साहित्य पर विचार-विमर्श हुआ। कालक्रम से सही प्रगतिवाद हो गया।

प्रयोगवाद का समय तारसप्तक कविता संग्रह के प्रकाशन काल (सन् 43) से माना जाता है। "प्रयोगवाद" नाम चलने के कारण "तारसप्तक" का संपादकीय है, जिसमें "प्रयोग" और "प्रयोगशीलता" की बार-बार चर्चा की गयी है। प्रयोग-प्रयोग की इसी रट के कारण इस संग्रह की कविताओं को "प्रयोगवाद" कह दिया गया। पर इस नाम से तारसप्तक के संपादक अज्ञेय सहमत नहीं है। बल्कि उन्होंने दूसरा सप्तक (1951) की भूमिका में इसका विरोध भी किया है। परन्तु जिस प्रकार छायावादियों के न चाहने पर भी, छायावाद की संज्ञा चल पड़ी, उसी प्रकार प्रयोगवाद भी चल पड़ा। अब इससे एक निश्चित काव्य प्रवृत्ति का बोध होता है और प्रवचन से इसमें पर्याप्त अर्थवत्ता आ गयी है।

नवलेखन काल (1953 से आगे)

प्रयोगवाद या प्रयोग युग के बाद हिंदी साहित्य में कई प्रवृत्तियाँ उभरीं, यथार्थ के कई पहलू सामने आये। इसके अतिरिक्त यह साहित्य प्रवाह इतनी तेजी से प्रभावित हो रहा है कि यह सवाल बार-बार सामने आता है कि इसे किसी एक नाम में बांधा जाय या नहीं। स्वतंत्रता के बाद लिखी गयी कविताओं को "नयी कविता" कहा गया, जिनमें नये मूल्यों और नये शिल्प विधान का अन्वेषण किया गया।

"नयी कविता" नाम पर आपत्ति यह उठायी जाती है कि नयापन किसी साहित्य की विकासशील परंपरा पर द्योतक होता है। अतः इस काल की कविता को नयी कविता कहने का क्या औचित्य है? फिर भी नयी कविता नाम स्वतंत्रता के बाद लिखी गयी उन कविताओं के लिए रूढ़ हो गया जो अपने विषय और शिल्प में प्रगतिवाद और प्रयोगवाद का विकास होकर भी विशिष्ट हैं। इस नयी कविता के अनेक स्रोत फूटे और कई काव्यान्दोलन सामने आये, जैसे अकविता, अतिकविता, अस्वीकृत कविता आदि-आदि। इसी प्रकार कहानी में भी नयी कहानी का जोर चल पड़ा। साहित्य के नये-नये रूप और आयाम सामने आये। इन सभी प्रवृत्तियों को एक साथ समेटना विवादास्पद हो सकता है, पर सुविधा की दृष्टि से इसे नवलेखन काल कहा जा सकता है।

बोध प्रश्न

4 हिंदी साहित्य का आरंभ कब से माना जाता है?
(सही उत्तर के सामने ✓ का चिह्न लगाएँ)

क) सातवीं शताब्दी ( )
ख) आठवीं शताब्दी ( )
ग) दसवीं शताब्दी ( )
घ) ग्यारहवीं शताब्दी ( )

5 हिंदी साहित्य का इतिहास लिखने वाले तीन विद्वानों के नाम लिखिए:

क) .....
ख) .....
ग) .....

6 हिंदी साहित्येतिहास कालविभाजन का प्रयास सर्वप्रथम किसने किया?

.....

.....

7 "आदिकाल" का नामकरण विभिन्न विद्वानों ने अलग-अलग किया है। सही नाम और विद्वान का मिलान करें।

	विद्वान	नामकरण
क)	जार्ज ग्रियर्सन	सिद्ध सामंतकाल
ख)	विश्वनाथ प्रसाद मिश्र	चारणकाल
ग)	हजारी प्रसाद द्विवेदी	वीरगाथा काल
घ)	रामचंद्र शुक्ल	वीर काल
ङ)	राहुल साकृत्यायन	आदिकाल
क)	.....	.....
ख)	.....	.....
ग)	.....	.....
घ)	.....	.....
ङ)	.....	.....

8 "रीतिकाल" के नामकरण विषयक विवाद पर विचार कीजिए
(उत्तर पाँच पंक्तियों में दीजिए)

.....

.....

.....

.....

.....

अभ्यास

1 हिंदी साहित्य के कालविभाजन पर टिप्पणी कीजिए
(उत्तर पन्द्रह पंक्तियों में दीजिए)

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2 हिंदी साहित्य के कालों के नामकरण के विभिन्न प्रयासों का उल्लेख कीजिए। (उत्तर पंद्रह पंक्तियों में दीजिए)

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2.6 सारांश

प्रस्तुत इकाई में आपने कालविभाजन और नामकरण की समस्या के विभिन्न पहलुओं की जानकारी प्राप्त की है।

इस इकाई को पढ़ने के बाद अब आप बता सकते हैं कि इतिहास के कालविभाजन और नामकरण की आवश्यकता अध्ययन की सुविधा के लिए तो है ही; इतिहास को सही ढंग से समझने के लिए भी यह जरूरी है।

कालविभाजन और नामकरण करते समय प्रायः साहित्यिक प्रवृत्ति को आधार बनाया जाता है। किसी सामान्य प्रवृत्ति के अभाव की स्थिति में राजनीतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और व्यक्ति परक आधारों को भी अपनाया जा सकता है। इन आधारों को अपनाकर हिंदी साहित्य के इतिहास को मुख्यतः चार कालों में विभक्त किया गया है—आदिकाल, पूर्व मध्यकाल, उत्तर मध्यकाल और आधुनिक काल। इनका नामकरण किया गया— आदिकाल, भक्ति काल, रीतिकाल और आधुनिक काल।

2.7 शब्दावली

चौसर युग: चौसर (1340-1400) अंग्रेजी साहित्य का जन्मदाता माना जाता है। इसके नाम पर अंग्रेजी साहित्येतिहास में चौसर युग की कल्पना की गयी है।

जार्ज अब्राहम ग्रियर्सन: जार्ज अब्राहम ग्रियर्सन (1851-1941) को हिन्दी से अतिशय प्रेम था। उनकी पुस्तक का नाम "माडर्न वर्नाक्यूलर लिटरेचर ऑफ नार्दर्न हिन्दुस्तान" है। हिंदी साहित्य पर काम करने के साथ-साथ ग्रियर्सन ने इसमें भारतीय भाषाओं और बोलियों का उदाहरण भी दिया है।

2.8 उपयोगी पुस्तकें

गुप्त, गणपतिचंद्र, *हिंदी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास*, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद।

द्विवेदी, हजारी प्रसाद, *हिंदी साहित्यः उद्भव और विकास*, राजकमल प्रकाशन प्रा. लि. नयी दिल्ली।

नगेन्द्र *हिन्दी साहित्य का इतिहास*, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली।

शुक्ल, रामचंद्र, *हिन्दी साहित्य का इतिहास*, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी।

2.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न

1 क, ख और घ।

2 कालविभाजन और नामकरण का मुख्य आधार काल विशेष की प्रमुख साहित्यिक प्रवृत्ति होती है।

3 कालविभाजन करते समय इतिहासकार बदलती हुई परिस्थितियों और प्रवृत्तियों को ध्यान में रखता है। उन कालों का नामकरण वह इस प्रकार करना चाहता है कि काल विशेष की मूल साहित्यिक चेतना प्रतिबिम्बित हो सके।

4 ग

5 क) ग्रियर्सन
ख) रामचंद्र शुक्ल
ग) हजारी प्रसाद द्विवेदी

6 जार्ज ग्रियर्सन

7

विद्वान	नामकरण
क) जार्ज ग्रियर्सन	चारणकाल
ख) विश्वनाथ प्रसाद मिश्र	वीरकाल
ग) हजारी प्रसाद द्विवेदी	आदिकाल
घ) रामचंद्र शुक्ल	वीरगाथा
ड) राहुल सांकृत्यायन	सिद्ध सामंतकाल

8 "उत्तर मध्यकाल" को रीतिकाल कहा जाता है। कुछ विद्वान इसे विषय के आधार पर शृगार काल भी कहते हैं। पर "रीतिकाल" अधिक मान्य नाम है, क्योंकि इस काल में प्रत्येक विषय का प्रतिपादन एक "रीति" से अर्थात् एक ढंग से किया जाता था। अतः "रीतिकाल" नाम ही उपयुक्त है।

अभ्यास

इस उत्तर में निम्नलिखित तथ्य शामिल किए जाने चाहिए।

1
- हिंदी साहित्य के कालविभाजन के विभिन्न प्रयासों का जिक्र
- कालविभाजन का आधार
- पहला वैज्ञानिक कालविभाजन
- मान्य कालविभाजन

(देखें उपभाग 2.4.1)

2 • हिंदी के प्रमुख कालों के नामकरण पर अलग से चर्चा।
• हिंदी साहित्य के आरम्भिक काल और उत्तर मध्यकाल के नामकरण पर विवाद।
• सही नामकरण का उल्लेख।

(देखें भाग 2.5)

इकाई 3 हिन्दी साहित्य की पृष्ठभूमि

इकाई की रूपरेखा

3.0 उद्देश्य
3.1 प्रस्तावना
3.2 अपभ्रंश का उद्भव और विकास
  3.2.1 अपभ्रंश और देशभाषा
  3.2.2 अपभ्रंश,अवहट्ठ और पुरानी हिंदी
  3.2.3 ऐतिहासिक पृष्ठभूमि
3.3 अपभ्रंश साहित्य का अवलोकन
  3.3.1 स्वयंभू का काव्य
  3.3.2 पुष्पदंत का काव्य
  3.3.3 जैन कवियों के चरित काव्य और कथा काव्य
  3.3.4 जैन कवियों का रहस्यवादी काव्य
  3.3.5 बौद्ध सिद्ध काव्य
  3.3.6 वीर और शृंगार काव्य
3.4 अपभ्रंश और हिन्दी साहित्य का संबंध
  3.4.1 अपभ्रंश और हिंदी का चरित काव्य
  3.4.2 अपभ्रंश और हिंदी का भक्ति काव्य
  3.4.3 अपभ्रंश और हिंदी का शृंगार काव्य
3.5 अभिव्यंजना शिल्प
3.6 सारांश
3.7 शब्दावली
3.8 उपयोगी पुस्तकें
3.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

3.0 उद्देश्य

हिंदी साहित्य के इतिहास के इस पाठ्यक्रम में आपने साहित्य और इतिहास के अंतःसंबंध और कालविभाजन तथा नामकरण की समस्या की जानकारी प्राप्त कर ली है। प्रस्तुत इकाई को पढ़ने के बाद आप:

- अपभ्रंश का अर्थ और उसके विकास को समझ सकेंगे,
- हिंदी साहित्य के ठीक पहले लिखे जा रहे अपभ्रंश साहित्य पर प्रकाश डाल सकेंगे,
- और अपभ्रंश साहित्य और हिंदी साहित्य का संबंध स्थापित कर सकेंगे।

3.1 प्रस्तावना

हिंदी साहित्य का इतिहास पढ़ने से पहले जिस प्रकार साहित्य और इतिहास के अंतःसंबंध हिंदी साहित्येतिहास लेखक, कालविभाजन और नामकरण की समस्या आदि पर विचार करना जरूरी है, उसी प्रकार यह भी जानना जरूरी है कि हिंदी साहित्य की शुरुआत होने के ठीक पहले किस प्रकार का साहित्य किस प्रकार की भाषा में लिखा जा रहा था।

हिंदी साहित्य और उसके इतिहास का आरंभ 10वीं शताब्दी से माना जाता है। पर हिंदी के कुछ विद्वान, खासकर चंद्रधर शर्मा गुलेरी और राहुल सांस्कृत्यायन इसका समय और भी पीछे खींच कर ले जाते हैं और इसका आरंभ सातवीं-आठवीं शताब्दी से मानते हैं। इसका कारण यह है कि वे अपभ्रंश साहित्य की गणना भी हिन्दी साहित्य के अंतर्गत ही करना चाहते हैं और अपभ्रंश के कवि स्वयंभू तथा पुष्पदंत को हिंदी का आरंभिक कवि मानते हैं।

हिन्दी साहित्य का आरंभ और कालविभाजन का संबंध इस बात पर काफी कुछ निर्भर है कि अपभ्रंश साहित्य से हिंदी साहित्य की शुरुआत मानी जाए या नहीं। हमने इस प्रश्न पर कालविभाजन और नामकरण संबंधी इकाई में भी विचार किया है और यह स्थापित तथ्य आपके सामने रखा है कि अपभ्रंश साहित्य का अध्ययन हिंदी साहित्य की पृष्ठभूमि के रूप में किया जाना चाहिए न कि हिंदी साहित्य के अंग के रूप में।

हिन्दी साहित्य और उसके इतिहास के क्रम में अपभ्रंश साहित्य की बार-बार चर्चा होती है। अतः हमने यह जरूरी समझा कि आप अपभ्रंश साहित्य का सामान्य परिचय प्राप्त कर लें। इस इकाई में अपभ्रंश के साहित्य का अवलोकन करने के साथ-साथ हमने यह भी बताने की कोशिश की है कि किस प्रकार और किस हद तक अपभ्रंश साहित्य हिंदी साहित्य से जुड़ा हुआ है।

3.2 अपभ्रंश का उद्‌भव और विकास

अपभ्रंश का अर्थ है—भ्रष्ट, विकृत अथवा अशुद्ध। इस नाम का प्रयोग पहले पहल उस शब्द के लिए होता था, जो भाषा के सामान्य मानदंड से गिरा होता था। आरंभ में संस्कृत के विकृत शब्द रूप के लिए भर्तृहरि, पतंजलि आदि वैयाकरणों ने "अपभ्रंश" का प्रयोग किया। धीरे-धीरे इस नाम का अर्थ-विस्तार हुआ और यह भाषा विशेष के लिए प्रयुक्त होने लगा। भाषा विशेष के अर्थ में अपभ्रंश शब्द का प्रयोग छठी शताब्दी ईस्वी के आसपास मिलता है। भारतीय आर्यभाषा के विकास में अपभ्रंश प्राकृत के बाद की अवस्था है। इस भाषा में आठवीं शताब्दी से चौदहवीं शताब्दी के बीच साहित्य का सृजन हुआ।

अपभ्रंश भाषा को समझने के लिए भारतीय आर्यभाषा के विकास को जानना जरूरी है। प्रत्येक युग में एक साहित्यिक भाषा होती है और इसके समानान्तर अनेक जन भाषाएँ बोली के रूप में जीवित रहती हैं। वेदों की भाषा छन्दस् ने तत्कालीन देशी भाषा से शक्ति अर्जित करके संस्कृत का रूप लिया। इसी प्रकार पालि, प्राकृत और अपभ्रंश अवस्था का जन्म हुआ। इसे आप एक चार्ट द्वारा अच्छी तरह समझ सकते हैं:

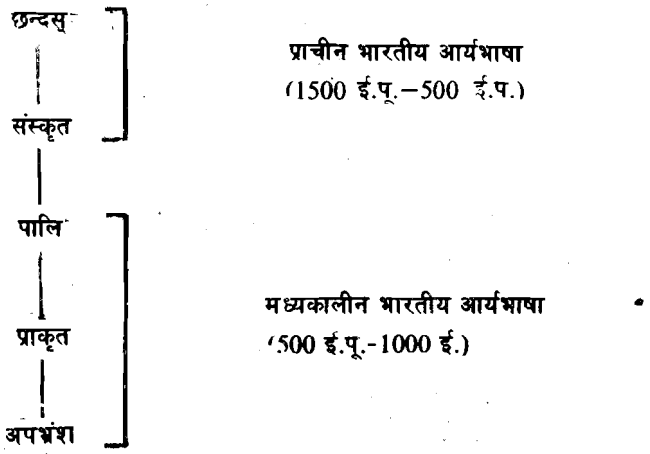

आधुनिक भारतीय आर्यभाषाएँ (सिंधी, गुजराती, पंजाबी, ब्रज, अवधी आदि) 1000 ई. से वर्तमान समय तक।

अपभ्रंश मध्य भारतीय आर्यभाषा की अंतिम कड़ी और आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं की जननी है। हिंदी भी उनमें से एक है। इसीलिए हिंदी साहित्य को समझने के लिए अपभ्रंश साहित्य को समझना जरूरी है।

3.2.1 अपभ्रंश और देशभाषा

संस्कृत के आचार्यों और अपभ्रंश कवियों ने अपभ्रंश को देशभाषा कहा है। महान अपभ्रंश

कवि स्वयंभू और पुष्पदंत ने अपनी भाषा को "ग्रामीण भाषा" अथवा "देशी भाषा" कहा है। वस्तुतः प्रत्येक युग में एक साहित्यिक भाषा होती है और अनेक लोक भाषाएँ होती हैं। इन्हीं लोक भाषाओं से साहित्यिक भाषा जीवन का रस प्राप्त करती है और इस प्रकार यह जीवंत बनी रहती है। जब साहित्यिक भाषा जनता से दूर हटती है और केवल पंडितों की भाषा रह जाती है, तब वह भाषा मृत हो जाती है और उसका स्थान कोई लोकभाषा ले लेती है। कालान्तर में यही लोकभाषा साहित्यिक भाषा बन [illegible] और भाषा के विकास का यह क्रम लगातार चलता रहता है। वैदिक काल में छन्दस् साहित्यिक भाषा थी और संस्कृत लोकभाषा। बाद में छन्दस् ने लोकभाषा से शक्ति अर्जित की और संस्कृत के रूप में नई साहित्यिक भाषा सामने आई। जब संस्कृत साहित्यिक भाषा के रूप में प्रतिष्ठित थी, उस समय प्राकृत लोकभाषा के रूप में इसके समानान्तर चल रही थी। जब संस्कृत पंडितों की भाषा रह गई और जनता से उसका सम्पर्क टूट गया, तब प्राकृत ने धीरे-धीरे साहित्यिक भाषा का रूप ले लिया। इसी प्रकार, जब प्राकृत रूढ़ और बद्ध हो गई तब अपभ्रंश साहित्यिक भाषा के रूप में सामने आई। आगे चलकर अपभ्रंश का युग भी समाप्त हुआ और आधुनिक भारतीय भाषाओं में साहित्य की रचना की जाने लगी।

पर अपभ्रंश को देशभाषा कहा जाए या नहीं, इस पर विद्वानों के बीच काफी मतभेद है। कुछ विद्वान जैसे पिशेल, ग्रियर्सन, सुनीति कुमार चटर्जी आदि अपभ्रंश को "देशभाषा" मानते हैं, जबकि याकोबी, कीथ, ज्यूल बलाख आदि विद्वान अपभ्रंश को देशभाषा नहीं मानते हैं। पर जो लोग यह नहीं मानते कि अपभ्रंश देशभाषा थी; वे भी इतना अवश्य स्वीकार करते हैं कि अपभ्रंश में देशभाषा के अनिवार्य तत्व मौजूद थे।

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि साहित्यिक प्राकृत का देशी भाषाओं के साथ सम्पर्क हुआ और इस प्रकार भारतीय आर्यभाषा की अपभ्रंश अवस्था की शुरुआत हुई। इस सिलसिले में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का मत दृष्टव्य है: "जब तक भाषा बोलचाल में थी तब तक वह भाषा या देशभाषा ही कहलाती रही, जब वह भी साहित्य की भाषा हो गई तब उसके लिए अपभ्रंश शब्द का व्यवहार होने लगा।"

3.2.2 अपभ्रंश, अवहट्ठ और पुरानी हिंदी

अपभ्रंश को हिंदी साहित्य में शामिल किया जाए या नहीं, इस संबंध में विद्वानों के बीच बड़ा मतभेद है। कुछ विद्वान जैसे पं. राहुल सांस्कृत्यायन और चंद्रधर शर्मा गुलेरी अपभ्रंश को हिंदी में शामिल करना चाहते हैं। उनका कहना है कि अपभ्रंश ही पुरानी हिंदी है। हिंदी साहित्य के आरंभ का विवाद इसी प्रश्न से सम्बद्ध है। इसलिए इस भाग में हम अपभ्रंश, अवहट्ठ और पुरानी हिंदी का अंतर स्पष्ट कर रहे हैं।

आप इतना तो समझ गए होंगे कि अपभ्रंश पर प्राकृत का प्रभाव काफी स्पष्ट था; उसी प्रकार जैसे संस्कृत पर छन्दस् का प्रभाव। इसी कारण आचार्य रामचन्द्र शुक्ल अपभ्रंश को "प्राकृताभास हिंदी" कहते हैं, "पुरानी हिंदी" नहीं। "पुरानी हिंदी" के रूप में वे सिद्धों के उस भाषा रूप को स्वीकार करते हैं, जिसमें देशभाषा का पुट था। वे देशभाषा मिश्रित अपभ्रंश को—"पुरानी हिंदी" कहते हैं। चन्द्रधर शर्मा गुलेरी भी इस मत का समर्थन करते हुए लिखते हैं: "विक्रम की सातवीं शताब्दी से ग्यारहवीं शताब्दी तक अपभ्रंश की प्रधानता रही और फिर वह पुरानी हिंदी में परिणत हो गई। इसमें देशी की प्रधानता है।" इसी प्रकार आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने भी देशी भाषा मिश्रित अपभ्रंश को "पुरानी हिंदी" कहा है। इस काल में (10वीं शताब्दी के आसपास) लोकभाषा में तत्सम शब्दों का प्रयोग बढ़ा। इस काल के गद्य साहित्य इस बात के प्रमाण हैं, जिनमें तत्सम शब्दों का प्रयोग पर्याप्त मात्रा में हुआ है। वस्तुतः "पुरानी हिंदी" "अपभ्रंश" का ही आगे बढ़ा हुआ रूप है, जिसमें तत्सम शब्दों के प्रयोग की बहुलता रही। नवीं-दसवीं शताब्दी तक उस अपभ्रंश भाषा की प्रधानता रही, जिसपर प्राकृत शब्दों का स्पष्ट प्रभाव था, इसे अपभ्रंश कहा गया। नवीं-दसवीं शताब्दी के बाद प्राकृत शब्दों से मुक्त होने की प्रवृत्ति बढ़ी और तत्सम शब्दों को ग्रहण किया जाने लगा। यही "पुरानी हिंदी" है।

अब सवाल यह है कि "अवहट्ठ" क्या है? प्राकृत और अपभ्रंश ग्रंथों में अपभ्रंश के कई नाम मिलते हैं, जैसे अवहट्ठ, अवहठ, अवहट, अवहंस, अवहत्थ आदि। इस अर्थ में "अवहट्ठ" "अपभ्रंश" का पर्याय है। पर ऐसी बात है नहीं। विद्यापति ने अपनी रचना

"कीर्तिलता" और "कीर्तिपताका" को "अवहट्ठ" कहा है:

"देसिल बअना सब जन मिट्ठा। तें तैंसन "जंपओ अवहट्ठा।" अर्थात देशीभाषा (बोलचाल की भाषा) सबको मीठी लगती है। अतः मैं वैसे ही "अवहट्ठ" में अपनी कविता कहता हूं। स्पष्ट है कि विद्यापति ने देशीभाषा मिश्रित परवर्ती अपभ्रंश को "अवहट्ठ" कहा है, जिसे "परवर्ती अपभ्रंश" या "पुरानी हिंदी" कहा जाता है। एक बात ध्यान देने की है कि परवर्ती अपभंश के लेखकों जैसे अद्दहमाण, ज्योतिरीश्वर आदि ने "अवहट्ठ" का प्रयोग किया। लगता है कि इन कवियों ने इस शब्द का प्रयोग जान-बूझकर और पूर्ववर्ती अपभ्रंश की तुलना में थोड़ी परिवर्तित भाषा के लिए किया है। अतः "अवहट्ठ" और "पुरानी हिंदी" में कोई अंतर नहीं है। दोनों ही "देशी भाषा मिश्रित अपभ्रंश" अथवा "परवर्ती अपभ्रंश" के पर्याय हैं।

3.2.3 ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

कुछ विद्वान छन्दस् से अपभ्रंश तक की विकास प्रक्रिया को नहीं मानते हैं। उनके अनुसार, यह प्रदेश विशेष की बोली थी, जिसका अस्तित्व प्राचीन भारतीय आर्यभाषा के युग में भी था। हम इस विवाद में पड़े बिना उन ऐतिहासिक कारणों की खोज करेंगे जिनके कारण अपभ्रंश व्यापक साहित्यिक भाषा के रूप में सामने आया।

जिस समय (आठवीं-नवीं शताब्दी) अपभ्रंश साहित्यिक भाषा के रूप में सामने आ रही थी, उस समय बंगाल के पालों और मान्यखेट के राष्ट्रकूटों की शक्ति मजबूत थी। पाल और राष्ट्रकूट राजाओं ने अपभ्रंश के कवियों को संरक्षण दिया। सरह, कण्ह आदि चौरासी सिद्ध कवि पालों के शासन काल में हुए। पुष्पदंत और स्वयंभू जैसे अपभ्रंश कवि राष्ट्रकूटों की छत्रछाया में काव्य रचना प्रस्तुत कर रहे थे। दसवीं शताब्दी में राष्ट्रकूटों की शक्ति क्षीण पड़ने लगी और गुजरात में सोलंकी चालुक्यों का प्रभाव पढ़ने लगा। सोलंकी चालुक्यों ने भी अपभ्रंश काव्य को प्रोत्साहित किया।

इन कारणों से अपभ्रंश साहित्य का निर्माण विस्तृत भूभाग में शुरू हुआ। एक ओर बंगाल में सरह और कण्ह इसी भाषा में दोहों का निर्माण कर रहे थे और मिथिला में ज्योतिरीश्वर और विद्यापति अपनी रचना प्रस्तुत कर रहे थे; दूसरी ओर मुल्तान में अद्दहमाण ने इसी भाषा को अपने काव्य का माध्यम बनाया था। पुष्पदंत और स्वयंभू ने इसी भाषा को काव्य के लिए चुना। पर इन सभी कवियों की भाषा में भेद था। इसका कारण था स्थानीय बोली का प्रभाव। कवि जिस प्रदेश में रचना कर्म कर रहा था, वहीं की स्थानीय बोली का प्रभाव उसकी रचना पर था। इस प्रकार अपभ्रंश के कई रूप स्थान के भेद के कारण सामने आते हैं। स्थान भेद के आधार पर अपभ्रंश को पश्चिमी और पूर्वी, दो भागों में बाँटा जा सकता है। पश्चिमी अपभ्रंश के अंतर्गत जैन कवियों की रचनाएँ और पूर्वी अपभ्रंश के अंतर्गत नाथ-सिद्धों की रचनाओं को रखा जा सकता है।

काल भेद के आधार पर भी अपभ्रंश के दो भेद किए जा सकते हैं—पूर्ववर्ती अपभ्रंश और परवर्ती अपभ्रंश। परवर्ती अपभ्रंश का काल दसवीं शताब्दी के बाद माना जाता है। परवर्ती अपभ्रंश को "अवहट्ठ" या "देश्य भाषा मिश्रित अपभ्रंश,भी [illegible]ते हैं। इसी परवर्ती अपभ्रंश से आधुनिक बोलियों का स्वतंत्र रूप प्रकट हुआ। परवर्ती अपभ्रंश की रचनाओं में "संदेशरासक", दामोदर पंडित का "उक्ति व्यक्ति प्रकरण", ज्योतिरीश्वर ठकुर का "वर्णरत्नाकर ' और विद्यापति की "कीर्तिलता" और "कीर्तिपताका" प्रमुख हैं।

बोध प्रश्न

1 निम्नलिखित कथन में से सही और गलत का चुनाव करें। (सही प्रश्न के आगे (✓) का और ग़लत प्रश्न के सामने (×) का चिह्न लगाएँ:

क) प्रारंभ में अपभ्रंश संज्ञा का प्रयोग 'शब्द' मात्र के लिए होता था। ( )

ख) सुसंस्कृत भाषा को अपभ्रंश की संज्ञा दी गई। ( )

ग) अपभ्रंश का प्राकृत से निकट का संबंध है। ( )

घ) परवर्ती अपभ्रंश ही अवहट्ठ है। ( )

2 पूर्ववर्ती अपभ्रंश और परवर्ती अपभ्रंश में क्या अंतर है? (तीन पंक्तियों में उत्तर दें)

.....

.....

.....

3 निम्नलिखित कथनों को पूरा करें:
(विकल्प नीचे दिए जा रहे हैं)

अपभ्रंश पर ..... का प्रभाव स्पष्ट था,
जबकि पुरानी हिंदी पर ..... का प्रभाव
था। अपभ्रंश में .....शब्दों की अधिकता
थी, जबकि पुरानी हिंदी में ..... शब्दों
का प्रचलन बढ़ा। ..... और .....
वस्तुतः एक ही भाषा के दो नाम हैं।
(प्राकृत, अवहट्ठ, तत्सम, पुरानी हिंदी, देशी भाषा)

3.3 अपभ्रंश साहित्य का अवलोकन

अब तक आप समझ गए होंगे कि आठवीं शताब्दी से लेकर चौदहवीं शताब्दी तक जो भाषा साहित्य जगत पर छाई रही, उसे हम अपभ्रंश के रूप में जानते हैं। आपको यह जानकर आश्चर्य होगा कि सुदूर दक्षिण को छोड़कर समस्त भारत में इस काल में अपभ्रंश काव्य की रचना हुई। जिन प्रमुख कवियों ने इस भाषा को साहित्यिक गरिमा प्रदान की उनमें स्वयंभू और पुष्पदंत प्रमुख हैं। स्वयंभू को अपभ्रंश का पहला कवि माना जाता है। स्वयंभू की "रामायण" और पुष्पदंत का "महापुराण" भारतीय साहित्य के अनुपम ग्रंथ हैं। अन्य कवियों में जोइन्दु, रामसिंह, हेमचन्द्र, सोमप्रभ, जिनप्रभ, जिनदत्त, राजशेखर, शालिभद्र, अब्दुल रहमान (अद्दहमाण) सरह और कण्ह आदि उल्लेखनीय हैं। इन कवियों ने चरित काव्य, गीति काव्य, विरह काव्य, रहस्य प्रधान कविता तथा कथा काव्य लिखे हैं।

इस भाग में हम अपभ्रंश साहित्य का सामान्य परिचय देने जा रहे हैं। हमारा उद्देश्य आपको यह बताना भर है कि हिंदी के साहित्यिक भाषा के रूप में सामने आने के ठीक पहले किस प्रकार का साहित्य किस प्रकार की भाषा में लिखा जा रहा था। आज उपलब्ध अपभ्रंश साहित्य का बहुत बड़ा भाग जैन कवियों द्वारा रचित धार्मिक साहित्य के रूप में मिलता है। जैन कवियों ने पौराणिक कथा प्रबंध, रहस्य और नीतिपरक रचनाएँ की हैं। जैन अपभ्रंश साहित्य की भाँति ही बौद्धों की अपभ्रंश रचनाएँ भी धार्मिक दृष्टिकोण से लिखी गई हैं। जैन-बौद्ध ग्रंथों के अतिरिक्त अपभ्रंश साहित्य की एक लौकिक धारा भी है जिसमें शृंगार प्रधान प्रबंध एव मुक्तक, दोनों प्रकार की रचनाएँ मिलती हैं। आइए, हम इनका अवलोकन करें।

3.3.1 स्वयंभू का काव्य

पौराणिक कथानकों को लेकर जैन कवियों ने अपभ्रंश में काफी मात्रा में प्रबंधात्मक साहित्य लिखा है। इन रचनाओं में धर्म, उपदेश तथा साहित्यिकता, तीनों का मिश्रण मिलता है। इस धारा के प्राचीन और श्रेष्ठ कवि स्वयंभू हैं। स्वयंभू ने राम और कृष्ण से संबंधित चरित काव्य परम्परा का विस्तार और विकास किया है। उन्होंने राम को लेकर "पउमचरिउ" (पद्मचरितम्) तथा कृष्ण को लेकर "रिट्ठणेमिचरिउ" (अरिष्टनेमिचरित) की रचना की है। स्वयंभू (अनुमानतः आठवीं शताब्दी) अपभ्रंश के पहले प्रमुख कवि हैं।

मूलत: स्वयंभू उत्तर के निवासी थे, परन्तु बाद में वे अपने संरक्षक रयडा धनंजय के साथ दक्षिण के राष्ट्रकूट राज्य में चले गए। स्वयंभू ने चार ग्रंथ लिखे:

1) पउमचरिउ (पद्मचरित अथवा रामचरित)

2) रिट्ठणेमिचरिउ (अरिष्टनेमि चरित या हरिवंश पुराण),

3) णाय कुमार चरिउ (नागकुमार चरित); और

4) स्वयंभू छंद।

पर स्वयंभू की प्रसिद्धि का आधार उनका रामकाव्य अर्थात पउमचरिउ है।

पउमचरिउ पाँच काण्ड और तिरासी संधियों (सर्गों) वाला एक विशाल महाकाव्य है। राम काव्य लिखने से पूर्व स्वयंभू अपना उद्देश्य स्पष्ट कर देते हैं। वे स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि मैं जनता की भाषा में जनता के लिए काव्य का निर्माण कर रहा हूँ। राम का चरित्रांकन करते समय न तो उन्होंने आदर्श का दामन पकड़ा है और न ही उसमें किसी प्रकार की अलौकिकता का समावेश किया है। उन्होंने अपने मुख्य चरित्र राम को एक साधारण मनुष्य के रूप में प्रस्तुत किया है, जो आपदाओं के खिलाफ लड़ता है और जिसमें सहज मानवीय दुर्बलताएँ भी हैं। तुलसीदास के राम और स्वयंभू के राम में बड़ा फर्क है। तुलसी के राम भगवान के अवतार हैं, पूज्य हैं, स्वयंभू के राम साधारण मनुष्य हैं, जो सीता को पाने के लिए रोते हैं, रावण जैसे पराक्रमी राजा से संघर्ष कर उसे वापस प्राप्त करते हैं। वही राम सीता की प्राप्ति पर उसे संदेह की नज़र से देखते हैं और उसे अग्नि परीक्षा देने को विवश करते हैं।

पुक्क-विमाणे[1] चडिए अणुराएं[2]
परिमिय[3] विज्जाहर[4]-संघाएं[5]
कोशल ण्यरि[6] पराइय[7] जावहिं
दिणमणि[8] गउ अत्थ[9] वणहोतावहिं
जत्थहो[10] पिययमेण[11] णिटवासिय[12]

इस प्रसंग का बड़ा ही मार्मिक चित्रण स्वयंभू ने किया है, जो उस समाज में नारी और पुरुष की स्थिति को स्पष्ट कर देता है। ऊपर दिए गए प्रसंग को पढ़ें और समझें–

सीता पुष्पक विमान पर चढ़कर बड़े अनुराग से आ जाती है: विद्वानों का समूह उन्हें घेरे हुए है। सीता को कोशल नगरी पराई लगने लगती है, क्योंकि सूर्य के अस्त होने के बाद भी उन्हें महल में जगह नहीं दी जाती है। पति आराम से महल में निवास कर रहा है और सीता पत्नी होकर भी उपवन में रात गुजारती है। सुबह होने पर राम सीता को देखते हैं।

कंतहि[13] तणिय कांति[14] पक्खप्पिणु[15]
पभण्इ पोम णाहु बिहसेप्पिण[16]
जेइ वि कुलग्गयाउ णिवज्ज्उ[17]
महिलउ होंति असुद्ध णिलज्ज्उ

सीता अग्नि परीक्षा के लिए वरासन पर बैठती हैं। इसी समय राम सीता को और सीता राम को देखती है। दोनों की आँखों में मिलन की आकांक्षा है, वैसे ही जैसे समुद्र शुक्ल पक्ष के प्रथम दिन में चाँद को देखकर विचलित हो जाता है। पर इसी समय राम व्यंग्य से मुस्कुराते हैं और सोचते हैं कि ऐसी पत्नी को कैसे स्वीकार किया जाए जो बारह वर्षों तक

---

1 पुष्पक विमान 2 अनुराग 3 घेरना 4 विद्याधर (विद्वान) 5 समुदाय 6 नगरी 7 पराई 8 दिनमान (सूर्य)
9 अस्त 10 जहा 11 पिया 12 निवास करते हैं 13 काता (पत्नी) 14 कांति (शोभा) 15 देखना 16 विहँसना
17 निर्लज्ज

दूसरे पुरुष के अधीन थी। राम धिक्कारते हुए कहते हैं कि नारी अशुद्ध होती है, निर्लज्ज होती है और मलिनमति होती है। त्रिभुवन में अपने-अपने कुल को मलिन कर अयश फैलाती है।

इस भाग के आरंभ में आपको बताया गया है कि स्वयंभू के राम और सीता साधारण स्त्री-पुरुष के रूप में आते हैं। स्वयंभू को इनका स्वाभाविक चित्र खींचने में अपूर्व सफलता मिली है। स्वयंभू के रामकाव्य में अनेक मार्मिक प्रसंग हैं, जिन्हें पढ़कर पाठक भावुक हुए बिना नहीं रह पाता। इसमें आहत लक्ष्मण के लिए राम का विलाप और मृत रावण के लिए विभीषण का विलाप प्रमुख हैं।

"रिट्ठणेमिचरिउ" या हरिवंशपुराण में स्वयंभू ने जैन परम्परा के बाइसवें अवतार तीर्थंकर अरिष्टनेमि, कृष्ण और कौरव-पांडवों की कथा का वर्णन किया है। कथा कहने की शैली तथा कवित्व शक्ति "पउमचरिउ" में मिलती है। इन कृतियों में स्वयंभू संगीत, कला तथा काव्यशास्त्र के गहरे अध्ययन और चिंतन का संकेत देते हैं।

3.3.2 पुष्पदंत का काव्य

पुष्पदंत अपभ्रंश के दूसरे बड़े कवि हैं। वे ब्राह्मण थे और उनका जन्म बरार में हुआ था। उनका काल 10वीं शताब्दी ई. है। उनका अधिकांश समय राष्ट्रकूट की राजधानी मान्यखेट में बीता। पुष्पदंत शुरू में शैव थे पर बाद में जैन हो गये।

पुष्पदंत की प्रसिद्धि का आधार उनकी प्रमुख रचना "महापुराण' है। इसमें उन्होंने राम-कथा, कृष्ण-कथा और जैन तीर्थंकरों की जीवन गाथाओं को शामिल किया है। कट्टर जैन धर्मावलंबी होने के कारण उन्होंने स्वभावतः राम और कृष्ण कथा की अपेक्षा ऋषभदेव को अधिक स्थान और महत्व दिया है। पुष्पदंत का काव्य कौशल रामकाव्य में प्रकट नहीं हो सका है। पर कृष्ण की बाललीला का वर्णन उन्होंने बड़ी कुशलता से किया है। पुष्पदंत के कृष्ण काफी नटखट हैं।

एक झांकी देखिए:

धूलि धूसरेण[1] वर-मुक्क[2] सरेण तिणा मुरारिणा[3]
कीला[4] रस वसेण गोवालय-गोवी[5] हियय-हारिणा
रंगतेण[6] रमत रमंते
मंथउ[7] धरिउ भमंत अणंते
मंदीरउ[8] तोडिवि आ-वट्टिउं
अद्ध-विरोलिउ[9] दहिउं पलोट्टिउ[10]
कवि गोवि गोविंदहु लग्गी
एक महारी मंथणि भग्गी[11]

धूल से सना वह मुरारी ब्रज की गोपियों के हृदय को हरनेवाला है। वह क्रीड़ा करता है और गोपियाँ उसकी क्रीड़ा देख-देखकर मुग्ध होती हैं। आँगन में बाल-कृष्ण दौड़ा फिर रहा है; कभी मथनी को लेकर दौड़ता है, तो कभी दही की हाँडी तोड़ देता है, कभी आधा बिलोया हुआ दही पलट देता है। गोपियाँ कृष्ण की इस क्रीड़ा से नाराज नहीं होती, बल्कि उन्हें सुख मिलता है।

इस भाग के आरंभ में आपने पढ़ा है कि पुष्पदंत ने राम काव्य और कृष्ण काव्य की अपेक्षा तीर्थंकर ऋषभदेव की कथा को अधिक महत्व दिया। आदिपुराण में ऋषभदेव के जन्म से लेकर महानिर्वाण तक की कथा वर्णित है। इसके अतिरिक्त ऋषभदेव के दो पुत्रों भरत और बाहुबलि की कथा का भी समावेश किया गया है।

स्वयंभू और पुष्पदंत अपभ्रंश के प्रमुख कवि हैं। इन्होंने अपभ्रंश की भाषा को साहित्यिक गरिमा प्रदान की। डॉ. नामवर सिंह के शब्दों में "इस तरह स्वयंभू और पुष्पदंत दोनों ही कवि अपभ्रंश-साहित्य के सिरमौर हैं। यदि स्वयंभू में भावों का सहज सौन्दर्य है तो पुष्पदंत

1 धूल से सने हुए 2 मुक्त 3 कृष्ण 4 क्रीड़ा 5 गोपी 6 आँगन 7 मथनी 8 मथानी 9 आधा बिलोया हुआ 10 पलटना 11 तोडना

में बंकिम भंगिमा है; स्वयंभू की भाषा में प्रच्छन्न प्रवाह है तो पुष्पदंत की भाषा में अर्थगौरव की अलंकृत झांकी। एक सादगी का अवतार है तो दूसरा अलंकरण का उदाहरण।''*

3.3.3 जैन कवियों के चरित काव्य और कथा काव्य

जैन कवियों ने पौराणिक पात्रों और लोकप्रिय व्यक्तियों को केंद्र में रखकर अनेक काव्य लिखे हैं। इसमें हरिभद्र सूरि (1159 ई.) का ''नेमिनाथ चरित'', विनयचन्द्र सूरि (1200 ई.) का ''नेमिनाथ चउपइ'' पुष्पदंत का ''नागकुमार चरित्र'' अथवा ''णायकुमार चरिउ'' और ''जसहर चरिउ'' प्रमुख हैं। इसके अतिरिक्त अपभ्रंश में ऐसे चरित काव्य भी लिखे गये, जिसका मुख्य पात्र या तो कवि की कल्पना का उपज होता था या फिर चरित्र लोक कथाओं से लिया गया होता था। इस प्रकार के काव्य को ''कथाकाव्य'' कहने का भी प्रचलन था। इस दृष्टि से धनपाल (10वीं शताब्दी ई.) रचित 'भविस्सत कहा'' अथवा ''भविष्यदत्त कथा''उल्लेखनीय है।

''भविस्सत कहा'' लोकप्रचलित प्रेमकथा पर आधारित है, जिसमें वणिकपुत्र भविष्यदत्त की करुण गाथा है। वह अपने सौतेले भाई द्वारा बार-बार छला जाता है और अत में जैन धर्म को स्वीकार कर सुखी जीवन व्यतीत करता है।

इस काव्य में कई ऐसे मार्मिक स्थल है, जहाँ धनपाल की काव्य-प्रतिभा अपनी पूर्ण गरिमा के साथ सामने आती है। भविष्यदत्त को अकेला छोड़कर जब उसका सौतेला भाई बंधुदत्त भाग जाता है, तो दुखी भविष्यदत्त अकेला पड़ा-पड़ा सोचता है–

गयं णिफफलं[1] ताम सव्वं वणिज्जं[2]।
हुवं अम्ह गोतम्मि लज्जा-वणिज्जं।।
ण जत्ता[3] ण वित्त[4] मित्रं[5] ण गेहं[6]।
ण धम्मं ण कम्मं, ण जीयं, ण देहं।
ण पुतं कलतं ण इट्ठं ण दिट्ठे[7]।
गयं गयउरे दूर-देसे पइट्ठं।।

व्यापार के उद्देश्य से घर से निकला था, पर सब निष्फल रहा। मैं व्यापार में तो असफल रहा ही; न यश मिला न धन की प्राप्ति हुई, न मित्र बनाया न ही कोई घर बनाया। न धर्म की प्राप्ति की, न कोई कर्म किया। शरीर और प्राण भी आहत हो चुके हैं। न पुत्र की प्राप्ति हुई। मैं न यहाँ का रह गया न वहाँ का रह गया। और तो और अपने घर से इतनी दूर आ गया हूँ जहाँ कोई रहता भी नहीं है।

कहना न होगा कि अपभ्रंश चरित काव्यधारा लम्बे समय तक गतिशील रही है। अपभ्रंश चरित काव्य की परम्परा को आधुनिक बोलियों के साहित्य ने पीछे धकेल कर ठप्प कर दिया लेकिन इस परम्परा के काव्यरूप, कथानक रूढ़ियाँ, छन्द-शैली आदि हिंदी साहित्य में गहरे प्रभाव के साथ प्रकट होते रहे हैं।

3.3.4 जैन कवियों का रहस्यवादी काव्य

जैन कवियों ने प्रबंधकाव्य तो लिखे ही साथ ही साथ उन्होंने दोहों के माध्यम से मुक्तक काव्य की रचना भी की। इस प्रकार के काव्य में रहस्यवादी साधना का स्वर सुनाई पड़ता है। पर इन कवियों का स्वर साम्प्रदायिक नहीं है। इन्होंने अपनी कविता के माध्यम से जैन और ब्राह्मण धर्म की रूढ़ियों और बाह्याडम्बरों का विरोध किया है। भाषा, भाव और शैली की दृष्टि से ये दोहे निर्गुण काव्य के अन्तर्गत आते हैं।

अपभ्रंश में निर्गुण काव्य लिखने वाले कवियों में जोइन्दु (10वीं शताब्दी ईस्वी-परमात्मा प्रकाश और योगसार) और रामसिंह (1100 ई. के आसपास, पाहुड़दोहा) प्रमुख हैं।

* हिंदी के विकास में अपभ्रंश का योग, डॉ. नामवर सिंह, पृ. 206

1 निष्फल 2 व्यापार 3 यश 4 धन 5 मित्र 6 घर 7 न यहाँ के रहे न वहाँ के रहे

"पाहुड़दोहा" "परमात्मा प्रकाश" और "योगसार", से श्रेष्ठ रचना है। इसमें लोकजीवन की घटनाओं के माध्यम से तत्व ज्ञान की बात आसानी से रख दी गयी है। "पाहुड़दोहा" का शाब्दिक अर्थ है "दोहों का उपहार"। पाहुड़ का संस्कृत रूपांतर 'प्रभृत' है, जिसका अर्थ होता है उपहार।

"पाहुड़दोहा" में रामसिंह ने पुराण-पंथी रूढ़िवादी प्रवृत्ति का बिरोध किया है। उन्होंने उस "षड्दर्शन" का विरोध किया है, जो एक ही ईश्वर के छह भेद कर देता है:

छह-दसंण[1] धधइ पडिय, मणहँ[2] ण फिट्टिव भँति[3]।
एक्कु देउ[4] छह भेउ[5] किउ, तेणँ ण मोक्खहं[6] जांति।।

षट् दर्शन के धंधे में पड़कर मन की भ्रांति नहीं टूटी। एक देव के छह भेद किए, इसी कारण मोक्ष नहीं मिला।

यह शास्त्र विरोध वस्तुतः पुरोहितों और पंडितों पर सीधा प्रहार था। इन्होंने कोरे अक्षर ज्ञान का भी विरोध किया:

बहुयइँ[7] पढियइँ मूढ़, पर तालू सुक्कई[8] जेंण।
एक्कुजि[9] अक्खरू[10] तं पढुहु, सिवपुरी गम्मई[11] जेण।।

मूर्ख, तूने बहुत पढ़ाई कर ली है, इसी से तुम्हारा तालु सूखता है। एक ही अक्षर पढ़ो जिससे शिवपुरी पहुँचा जा सकता है। तात्पर्य यह कि शास्त्रज्ञान से अनुभव ज्ञान बड़ा है।

रामसिंह अपने "पाहुड़दोहा" में धार्मिक बह्याडम्बरों का विरोध करते हुए लिखते हैं कि जो इनमें फँस गया वह मूल तक कभी नहीं पहुँच सकता है। मनुष्य पवित्र रहकर ही परमपद प्राप्त कर सकता है। पूजा-पाठ, तीर्थयात्रा आदि को पकड़ना तो उसी प्रकार है, जैसे जड़ को छोड़कर डाल का पकड़ा जाए। इसी उद्देश्य से यह दोहा रामसिंह ने रचा है:

मूलु छंडि[12] जो डाल चडि, कहँ तह जोयाभायसि[13]।
चीरूणु[14] वुणणहँ[15] जाइ बढ़, विणु उट्टिटई कपासि।।

जड़ को छोड़कर जो डाल पर जा बैठता है, उसके लिए योगभ्यास कहाँ? क्या रूई को ओटे बिना कपड़ा बुना जा सकता है? इस दोहे में रामसिंह ने स्पष्ट शब्दों में उन रूढ़ियों और आचरणों पर प्रहार किया है, जो वास्तविक ज्ञान तक लोगों को नहीं पहुँचने देते। अनुभव से प्राप्त ज्ञान ही वास्तविक ज्ञान है। जीवन से ही मनुष्य असली ज्ञान प्राप्त करता है। यह अनुभव शरीर के माध्यम से ही प्राप्त होता है। इसी कारण जैन मुनियों ने शरीर को मन्दिर भी कहा है। इस शरीर में ही परमात्मा का निवास होता है।

3.3.5 बौद्ध सिद्ध काव्य

जैन कवियों के समानान्तर पूर्वी प्रदेशों में सिद्ध कवि भी साहित्यिक अपभ्रंश में कविता लिख रहे थे। यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि मगध में रहने के कारण उनकी भाषा में पूर्वी प्रयोग देखने को मिलता है। इसे आचार्य रामचन्द्र शुक्ल "देशभाषा मिश्रित अपभ्रंश" अर्थात् पुरानी हिन्दी की काव्य भाषा मानते हैं।

सिद्धों की संख्या 84 थी। पर इनमें सरहपा अथवा "सरोरूह बज्र"। (8वीं शताब्दी ई.) और कण्हपा या कृष्ण पाद आचार्य (10वीं शताब्दी ई.) उल्लेखनीय हैं।

इन सिद्ध कवियों का जीवन के प्रति दृष्टिकोण सकारात्मक था। जैन कवियों के समान इन सिद्ध कवियों ने बाह्य आडम्बरों का विरोध किया और अन्तस्साधना पर बल दिया। अतंस्साधना पर जोर देते हुए और पंडितों का फटकारते हुए सरहपा लिखते हैं:

पंडिअ[16] सअल[17] सत्त[18] बक्खाणइ। देहहि बुद्ध[19] बसंत न जाणइ।
अमणागमण[20] ण तेन बिखंडिअ। तोवि णिलज्ज भणइ हउँ पंडि.ा।।

1 दर्शन 2 मन 3 भ्रांति 4 देव 5 भेद 6 मोक्ष 7 बहुत 8 सूखना 9 एक ही 10 अक्षर 11 पहुँचना 12 छोड़कर 13 योगभ्यास 14 कपड़ा 15 बुनना 16 पंडित 17 सारे 18 सत्य 19 बुद्धि 20 आवागमन

पडित लोग हमेशा सत्य ही बोलते हैं, जबकि उन्हें शरीर और बुद्धि का महत्व नहीं मालूम। वे आवागमन को तो समाप्त नहीं कर सकें, तो भी ये निर्लज्ज अपने को पंडित कहते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि ब्राह्मण अपने को विद्वान मानते हैं, पर इतना भी नहीं जानते कि अन्तस्साधना से परम सुख प्राप्त किया जा सकता है। वे जीवन में व्याप्त सुख-दुःख में ही फँसे हैं और फिर भी अपने को ज्ञानी मानते हैं।

सरहपाद के इस दोहे को देखने पर मालूम होता है कि इसकी वाणी जैन कवियों की वाणी से अधिक कठोर है। लेकिन इसका दृष्टिकोण नकारात्मक न होकर सकारात्मक है। सरहपा ने कुछ "रहस्यात्मक" शब्दों का इस्तेमाल बार-बार किया है, पर इनकी भाषा स्पष्ट है। सरहपा बड़ साधारण लहजे में कहते हैं:

जहि मण पवण ण संचरइ, रवि ससि णाह पवेस।
तहि बढं, चित्त विसाम करू, सरहें कहिउ उएस।।

अर्थात् जहाँ मन और पवन भी नहीं पहुँच सकते, जहाँ सूर्य और चन्द्रमा का प्रवेश नहीं है, वहीं अपने मन को ले जाओ; सरह ने सही उपदेश दिया है।

सिद्ध परंपरा में गुरु-शिष्य संबंध को बहुत महत्व दिया जाता है। लेकिन सरहपा का कहना है कि शिष्य और गुरु दोनों को ही ज्ञानी होना चाहिए अगर एक अंधा कुँए में गिरा हो तो दोनों कुँए में गिर पड़ेंगे:

जाव ण आप जणिज्जइ, ताव ण सिस्स करेइ।
अन्धाँ अन्ध कढव तिम, वेणण वि कूप पडेइ।।

जब तक आप ठीक से न जान लें, तब तक किसी को शिष्य न बनाएँ। अंधा अगर दूसरे अन्धे को कुँए से निकालने का प्रयत्न करेगा, तो दोनों कुँए में गिर पड़ेंगे।

सिद्ध कवियों ने शास्त्र ज्ञान को उस सीमा तक ही महत्वपूर्ण माना है, जिससे शास्त्र का खंडन किया जा सके:

अक्खर बाढ़ा सअल जगु, णाहि निरक्खर कोइ।
ताव से अक्खर घोलिया, जाव निरक्खर होइ।।

सकल जग अक्षर (शास्त्र ज्ञान) से बाधित है। निरक्षर कोई नहीं है। इसलिए उतना ही अक्षर घोलो (उतना ही शास्त्र प्राप्त करो) जिससे निरक्षता प्राप्त हो (शास्त्र ज्ञान का खंडन किया जा सके)।

सरहपा की तरह कण्हपा भी वेद और पुराण के ज्ञान की आलोचना करते हैं·

आगम-वेअ-पुणेहि, पण्डिअ माण वहन्ति।
पक्क-सिरीफले सलिअ जिम, बाहेरीअ भमन्ति।।

आगम, वेद, पुराण को ही सब कुछ मानकर विद्वद्जन उन्हें ढोते फिरते हैं. उसी प्रकार जिस प्रकार श्री फल के बाहर ही भौंरे घूमते रहते हैं।

जाति-पाँति का खंडन, झूठे शास्त्र ज्ञान की निन्दा, सद्गुरु की महिमा का बखान इनके काव्य की विशेष प्रवृत्ति रही है। नाथ-पंथ के जोगियों ने नागर अपभ्रंश या ब्रज का ढाँचा लिया। इसमें खड़ी बोली और राजस्थानी मिश्रित भाषा की झलक मिलती है।

3.3.6 वीर और शृंगार काव्य

अब तक आपने अपभ्रंश काव्य के जिस हिस्से का परिचय प्राप्त किया, उस काव्य का केन्द्रीय विषय पौराणिक-ऐतिहासिक चरित्र, घटना और धर्म आदि था। अब जिस काव्य का परिचय आप प्राप्त करने जा रहे हैं, उनमें वीर रस और शृंगार रस की कविताओं का वर्चस्व है। इस सिलसिले में हम दो ग्रंथों की चर्चा करेंगे। हेमचन्द्र का "प्राकृत व्याकरण" और अद्दहमाण का "सन्देश रासक"। सबसे पहले आइए, हम हेमचन्द्र रचित "प्राकृत-व्याकरण"में संकलित दोहों का मूल्यांकन करें।

हेमचन्द्र-प्राकृत-व्याकरण के दोहे

हेमचन्द्र ने 10 शताब्दी में "सिद्ध हेमचन्द्र शब्दानशासन" नामक एक व्याकरण ग्रंथ

लिखा। इसमें उन्होंने संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश तीनों का समावेश किया। किन्तु विशेष बात यह है कि अपभ्रंश का उदाहरण देते समय उन्होंने पूरा का पूरा दोहा उद्धृत किया है। उन्होंने अपभ्रंश के जिन दोहों को उद्धृत किया है उनके रचयिताओं के बारे में ठीक से कुछ मालूम नहीं हो सका है। विद्वानों का अनुमान है कि ये रचनाएँ हेमचन्द्र के व्याकरण से पहले की हैं।

हेमचन्द्र के व्याकरण में जो अपभ्रंश दोहे संकलित हैं, उनमें अपभ्रंश के शृंगार और वीर काव्य का परिचय मिलता है। नायिका कभी यह नहीं चाहती कि उनका पति लड़ाई के मैदान से जान बचाकर भाग आए और उसे सखियों के सामने लज्जित होना पड़े। वह तो यह चाहती है कि इससे तो अच्छा है कि उनका पति युद्ध में वीरगति को प्राप्त हो, ताकि वह समाज में गर्व से जी सके:

भल्ला हुआ जू मारिया बहिणि म्हारा कंत[1]।
लज्जेजं तु वयंसिअहु[2] जइ भग्ग घरू एंतु[3]।।

अर्थात् भला हुआ जो मेरा पति युद्ध में मारा गया, हे बहिन! यदि वह भागा हुआ घर आता तो मैं अपनी समवयस्काओं के सम्मुख लज्जित होती।

हेमचन्द्र के अपभ्रंश के उदाहरण इस प्रकार की लोक-भावनाओं से भरे पड़े हैं। नायिका वीर पति की कामना करती हैं; ऐसे वीर पति की, जो मतवालें हाथी से जूझने में भी न हिचके। देखिए एक दोहा:

आयहि जम्महि[4] उन्नहि वि गोरि सु दिज्जहि कंतु।
गय मतहँ चंतकुसंह[5] जो अब्भिडई[6] हसंतु।

नायिका पार्वती से प्रार्थना कर रही है कि हे गोरी, इस जन्म में और दूसरे जन्म में भी ऐसा पति दीजिए, जो मतवाले, निरंकुश हाथियों से हँसता हुआ जा भिड़े।

जिस समय अपभ्रंश काव्य लिखा जा रहा था, उस समय भारतीय रजवाड़े सामंतवाद की विकृतियों से ग्रस्त थे तथा देश बाहरी आक्रमणों को झेल रहा था। स्थिति में इतनी गिरावट आ गयी थी कि नायिका अपने प्रिय से कहती है कि उस देश में चलें जहाँ तलवार का व्यवसाय मिले, अगर हम यहाँ रहें तो हमारे अंग शिथिल पड़ जाएँगे, हम अस्वस्थ हो जाएँगे।

खग्ग[7]-बिसहिउ[8] जहिं लहहुँ पिय तहिंदेसहिं जाहुँ।
रण दुब्भिक्खें[9] भग्गाइ विणु जुज्झें न बलाहुँ।।

अर्थात् हे प्रिय, जहाँ खड्ग का व्यवसाय मिलो उसी देश में चलें; रण-दुर्भिक्ष में हम भग्न (क्षीण) हो गये हैं। बिना युद्ध के नहीं सँभलेंगे (स्वस्थ होंगे)।

नायिकाएँ वीर पति की कामना करती हैं। युद्ध से उन्हें प्रेम है, पर प्रिय का वियोग उन्हें भी सताता है और वे प्रिय को आता देखकर खुशी से इतनी मोटी हो जाती हैं कि उनकी चूड़ियाँ टूट जाती हैं। देखिए, ऐसी ही नायिका का एक चित्र:

वायसु[10] उडावंतिअए पिउ दिट्ठउ सहसत्ति।
अद्धा वल्ला[11] महिहि[12] गये अद्धा फुट तडत्ति।

नायिका कौआ उड़ा रही है, तभी प्रिय दीख पड़ता है। उसकी आधी चूड़ी तो ज़मीन पर गिर जाती है और आधी फूट जाती है।

प्रेमिका सोचती है कि जब प्रिय मुझसे मिलेंगे तब मैं उसमें उसी तरह समा जाउँगी, जिस तरह नये पुरवे (मिट्टी का बना पानी पीने का पात्र) में जल समा जाता है। इसमें प्रेमिका के पूर्ण आत्मसमर्पण की झलक मिलती है। आइए आप भी इसकी एक बानगी देखिए:

जइ केवँइ पावीसु पिउ अकिअ[13] कुड्डु[14] करीसु।
पाणिउ नवइ सराबि[15] जिवं सव्वंगें पइसीसु।।

1 पति 2 समवयस्क, सहेली 3 आता 4 जन्म में 5 व्यातांकुश (निरंकुश) 6 भिडना 7 खड्ग (तलवार) 8 व्यवसाय 9 दुर्भिक्ष (अकाल) 10 कौआ 11 चूड़ी 12 जमीन पर 13 अकृत (अपूर्व) 14 कौतुक 15 शराब का पुरवा

नायिका सोचती है कि यदि किसी प्रकार प्रिय को पा लूँगी तो अकृत (अपूर्व) कौतुक करूँगी। जिस प्रकार पानी नये पुरवा में समा जाता है, उसी प्रकार मैं भी प्रिय में सर्वांग प्रवेश कर जाऊँगी।

लेकिन जब प्रिय नहीं आता, तो प्रेमिका निराश हो जाती है और अपनी तुलना उस पपीहे से करती है, जो जल के वियोग में पी-पी की रट लगाता रहता है:

बप्पीहा[1] पिउ पिउ भणवि[2] कित्तउ रूअहि हयास[3]।
तुह जलि महु पुणु बल्लहइ[4] बिहुँ विन पूरिअ आस।।

हे पपीहा, पी-पी बोलकर हताश होकर कितना रोएगा। तेरी और मेरी स्थिति एक जैसी ही है। तू जल की रट लगा रहा है और मैं अपने प्रिय की रट लगा रही हूँ। पर हम दोनों में किसी की भी आशा पूरी नहीं होगी।

प्रिय बड़ा धोखेबाज है। वह कहकर गया कि मैं थोड़े दिनों में वापस आ जाऊँगा, पर वह अब तक आया नहीं। दिन गिनते-गिनते प्रेमिका की अंगुलियाँ घिस गयी हैं:

जे महु दिग्णा दिअहडा[5] दइएँ पवसन्तेण[6]।
ताण गणन्तिए[7] अंगुलिउ जज्जरिआउ[8] नहेण[9]।।

मुझे छोड़कर जाते समय प्रिय ने लौटने का जो दिन बताया था, उस दिन नहीं लौटा। उसके बाद दिन गिनते-गिनते नख से मेरी अंगुलियाँ जर्जरित हो गयी है।

ऊपर जिन दोहों को आपने पढ़ा, उनसे आप यह समझ गये होंगे कि अपभ्रंश भाषा में किस प्रकार का वीर काव्य और शृंगार काव्य लिखा जा रहा था। इसमें ऐसी नायिकाओं का वर्णन है, जो युद्ध में अपने प्रिय के वीरगति प्राप्त करने पर आँसू नहीं बहातीं, बल्कि इसे अपना सौभाग्य मानती हैं। उनका मन उस देश में नहीं रमता, जहाँ का वातावरण युद्ध विहीन हो। दूसरी तरफ ये प्रेमिकाएँ अपने प्रिय के वियोग में दुबली भी होती हैं, प्रिय के आने पर खुशी उन्हें भी होती है और उनमें सर्वांग समा जाने की बात करती हैं, पर प्रिय के न आने पर अपनी तुलना उस पपीहे से करती हैं, जो पी-पी की रट लगाता हुआ अन्ततः प्यासा ही रहता है। प्रिय के आने का दिन बीत जाता है, वह नहीं आता। प्रेमिका की अँगुलियाँ दिन गिनते-गिनते जर्जरित हो जाती हैं।

अभी आपने हेमचंद्र के "प्राकृत व्याकरण" में आए दोहों को पढ़ा और उनका अर्थ समझा। आइए, अब "संदेश रासक" को पढ़ें और समझने की कोशिश करें।

संदेश रासक

संदेश रासक एक संदेश काव्य है जिसके रचयिता अब्दुररहमान या अद्दहमाण (12वीं शताब्दी ईसवीं) हैं। इसमें विजय नगर की विरहिणी नायिका एक पथिक से पति को संदेश भेजती है। इसमें दो सौ तेईस छंद हैं। हालांकि कवि ने इसमें एक कथा कही है, पर इसका प्रत्येक छंद अपने आप में स्वतंत्र है। कवि का उद्देश्य कथा कहना नहीं है, उसका एक ही उद्देश्य है—नायिका का विरह वर्णन। नायिका एक पथिक को रोक कर अपने हृदय की व्यथा सुनाती है।

विरह परिग्गह[10] छावडइ[11] पहराविउ[12] निरवक्खि[13]।
तुट्टी देह ण हउ[14] हियउ, तुअ संमाणिय पिक्खि।।

विरह के परिग्रह (सैन्य ब आदि) ने छावड़ी (शरीर) पर निरपेक्ष भाव से (अनदेखे ही) प्रहार कर दिया, जिससे देह तो टूट गयी परंतु तुमसे सम्मानित (युक्त) देखकर हृदय घायल नहीं हुआ। तात्पर्य यह कि विरह के कारण नायिका का शरीर बहुत कमजोर हो गया है, पर प्रिय के प्रति उसका प्रेम इतना गहरा है कि उसके हृदय पर इस विरह का आक्रमण नहीं हो पाता है।

नायिका पथिक से कहती है कि मैं अपनी व्यथा सविस्तार नहीं सुना सकती। क्योंकि मैं

---

1 पपीहा 2 रटना 3 हताश 4 बल्लभ, पति, प्रिय 5 दिन 6 प्रवास करते समय 7 गिनती गिनते 8 जर्जरित 9 नख
10 परिग्रह 11 छाबड़ा (बेंत की बनी टोकरी: शरीर के लिए प्रयुक्त) 12 पहरा 13 निरपेक्ष
14 हत (घायल)

बहुत कमजोर हो गयी हूँ:

संदेसडउ[1] सवित्थरउ[2] पर मइ कहणु न जाइ।
जो कालंगुलि[3] मूँदडउ[4] तो बाहडी[5] समाइ।।

संदेशा विस्तार में है, अर्थात् मुझे प्रिय के पास अपनी व्यथा का पूरा ब्यौरा भेजना है, पर मुझमें इतनी ताकत नहीं कि विस्तार से पूरा वर्णन कर सकूँ। बस यही समझो कि जो कनगुरिया की अंगूठी थी, वह अब मेरी बांह में समा जाती है।

इस प्रकार पूरा संदेशरासक विरह-वर्णन से भरा पड़ा है। इसमें ऋतुओं का वर्णन विस्तार से हुआ है। इस कवि के सामने वस्तुओं के नाम गिनाने की कवि-परिपाटी थी। फलतः कवि ने वनस्पतियों की नामावली दी है। दीपावली, होली आदि उत्सवों का तन्मयता से वर्णन किया है। कृति में अनेक छन्दों का प्रयोग है पर सर्वाधिक रासक छंद का प्रयोग मिलता है। इसे पढ़ते समय कालिदास के "मेघदूत" का विरह वर्णन याद आ जाता है। हिंदी में भी इसी प्रकार का एक ग्रंथ लिखा गया है "बीसलदेव रासो", जिसकी चर्चा अगली इकाई में की जाएगी।

बोध प्रश्न

4 अपभ्रंश के सर्वप्रथम दो जैन कवियों का नामोल्लेख करें।

क) .....

ख) .....

5 नीचे दी गई तालिका में रचना और रचनाकार का सही मिलान कीजिए:

	रचना	रचनाकार
क)	स्वयंभू	नेमिनाथ चरिउ
ख	पुष्पदंत	पाहुड़दोहा
ग)	हरिभद्र सूरि	भविस्सत कहा
घ)	धनपाल	णाय कुमार चरिउ
ङ)	रामसिंह	पडम चरिउ

6 रिक्त स्थान की पूर्ति करें:

सिद्धों की संख्या ..... (84/88) थी।
इनमें ..... और .....
(रामसिंह और अद्दहमाण/सरहपा और कण्हपा) प्रमुख थे। इन्होंने अपनी रचनाओं में ..... (जाति-पाति का समर्थन/खंडन) और ..... (सद्गुरु की महिमा/राजा की महिमा) का बखान किया है।

7 अपभ्रंश के दो शृंगारिक ग्रन्थों का उल्लेख करें। इनमें से कौन सा ग्रन्थ मेघदूत और बीसलदेव रासो के बीच की कड़ी है? (तीन पंक्तियों में उत्तर दें)

.....

.....

.....

3.4 अपभ्रंश और हिंदी साहित्य का संबंध

पिछले भाग में आपने अपभ्रंश काव्य का परिचय प्राप्त किया और उसकी विशेष प्रवृत्तियों

1 संदेश 2 सविस्तार 3 कनगुरिया (कानी अंगुली) 4 मुंदी (अंगूठी) 5 बांह में।

से अवगत हुए। अपभ्रंश काव्य का अध्ययन करते समय आपने पाया कि जिन विषयों को कवि ने अपनी कविता का माध्यम बनाया है उनमें पौराणिक कथाएँ (राम काव्य, कृष्ण काव्य, तीर्थकरों के जीवन पर आधारित काव्य), धार्मिक रूढ़ियों और बाह्याडम्बरों का विरोध, ऐतिहासिक या लोक नायक का चरित्र (चरित काव्य), शौर्य और शृंगार प्रमुख हैं। इस परम्परा को हिंदी काव्य परम्परा ने और आगे बढ़ाया। हिंदी में वीर गाथात्मक काव्य लिखे गए, जिनमें अप्रभंश के चरित काव्यों की झलक मिलती है। इसी प्रकार सिद्ध-नाथ कवियों की वाणी संत काव्य की पूर्वपीठिका मालूम पड़ती है। हिन्दी का काव्य "बीसलदेव रासो" और "ढोला मारू-रा-दूहा" "संदेश रासक" की परम्परा में ही आते हैं। इसके अतिरिक्त रीतिकाव्य में जिन चमत्कार की प्रवृत्ति की तरफ विद्वानों ने इशारा किया है, वह प्रवृत्ति अपभ्रंश के शृंगारिक दोहों में मौजूद हैं।

3.4.1 अपभ्रंश और हिंदी का चरित काव्य

अपभ्रंश में चरित काव्यों की रचना हुई है। इन चरित काव्यों में पुष्पदंत का **नागकुमार चरित और जसहर चरिउ** प्रमुख हैं। इनमें प्रमुख पात्रों की वीरता और शौर्य का बढ़ा-चढ़ा कर वर्णन किया गया है लेकिन इन पात्रों को ऐतिहासिक नहीं मान सकते, क्योंकि इतिहास में इनका कहीं भी उल्लेख नहीं है। ये मुख्यत: काल्पनिक पात्र हैं।

दूसरी तरफ, हिन्दी में भी चरित काव्य लिखे गये हैं, जो रासो-काव्य के नाम से प्रसिद्ध हैं, जैसे पृथ्वीराज रासो, हम्मीर रासो, खुम्मान रासो; आदि। इनमें राजाओं के धन-वैभव, शौर्य, विवाह-शादी आदि का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन हुआ है। पर अपभ्रश में लिखे चरित काव्य और हिंदी में लिखे चरित काव्य में एक अन्तर यह है कि अपभ्रंश में जहाँ पौराणिक और अनैतिहासिक पात्रों की कीर्तिगाथा गायी गयी है, वहीं हिंदी में ऐतिहासिक पात्रों को केन्द्र में रखा गया है। लेकिन यह भी सच है कि हिन्दी के कवियों ने भी ऐतिहासिकता का ध्यान नहीं रखा है और अपनी कल्पना शक्ति का ज्यादा इस्तेमाल किया है। अपभ्रंश के चरित काव्य में भी कवि की कल्पना शक्ति ही प्रमुख है।

3.4.2 अपभ्रंश और हिन्दी का भक्ति काव्य

अपभ्रंश में एक तरफ जैन कवियों ने राम और कृष्ण काव्य लिखे तो दूसरी ओर सिद्ध-नाथ कवियों ने धार्मिक रूढ़ियों और बाह्याडम्बरों का विरोध करते हुए **अंतस्साधना** पर जोर दिया है। जहाँ तक अपभ्रंश में लिखे राम काव्य और कृष्ण काव्य का सवाल है, उसके बारे में स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि हिन्दी के राम काव्य और कृष्ण काव्य पर उसका प्रभाव कम पड़ा। भक्तिकाल की मूल चेतना "भक्ति" थी, जिससे इस युग का राम काव्य और कृष्ण काव्य ओत-प्रोत है। राम और कृष्ण ईश्वर के अवतार हैं। जैन काव्य में राम और कृष्ण साधारण पौराणिक पात्र के रूप में सामने आते हैं, इस काव्य में "भक्ति" नहीं है, राम और कृष्ण अवतार नहीं है।

पर कबीर आदि निर्गुण कवियों के काव्य सिद्ध-नाथ काव्य से प्रभावित है। इस संदर्भ में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का यह मत द्रष्टव्य है: "यदि कबीर निर्गुण मतवादी सन्तों की वाणियों की बाहरी रूपरेखा पर विचार किया जाए तो मालूम होगा कि यह सम्पूर्णत: भारतीय है और बौद्ध धर्म के अन्तिम सिद्धों और नाथपंथी योगियों के पदादि से उसका सीधा सम्बन्ध है। वे ही पद, वे ही राग-रागिनियाँ, वे ही दोहे, वे ही चौपाइयाँ कबीर आदि ने व्यवहार की थीं जो उक्त मत मानने वाले उनके पूर्ववर्ती सन्तों ने की थीं। क्या भाव, क्या भाषा, क्या अलंकार, क्या छंद, क्या पारिभाषिक शब्द सर्वत्र वे ही कबीरदास के मार्गदर्शक हैं। कबीर की भाँति ये साधक नाना मतों का खंडन करते थे सहज और शून्य में समाधि लगाने को कहते थे, दोहों में गुरु के प्रति भक्ति का उपदेश देते थे।

सरहपा का एक पद आपने पिछले भाग में पढ़ा है। वह इस प्रकार है:

जहि मण पवण ण संचरइ, रवि ससि णांह पवेस।
तहि बढ! चित्त विसाम करू, सरहें कहिउ उएस।।

कबीर ने भी इसी प्रकार की एक साखी लिखी है:

जिहि बन सीह न संचरै, पंखि उड़े नहिं जाय।
रैनि दिवस का गम नहीं, तहँ कबीर रहा लौ लाइ।।

यह सही है कि कबीर आदि साधकों ने नाथपंथियों और सहजयानियों के बहुत से पद थोड़े फेर बदल के साथ स्वीकार कर लिए हैं, पर इसका मतलब यह नहीं है कि कबीर आदि साधकों ने नाथपंथियों की नकल की है। इनके काव्य में भक्ति का रस मिला हुआ है, जो सिद्ध-नाथ कवियों में उपस्थित नहीं है।

3.4.3 अपभ्रंश और हिन्दी का शृंगार काव्य

अपभ्रंश काव्य का परिचय प्राप्त करने के क्रम में हमने हेमचंद्र के व्याकरण में उद्धृत अपभ्रंश के कुछ दोहे पढ़े, साथ ही साथ हमने "संदेश रासक" का भी परिचय प्राप्त किया है। "संदेश रासक" के ढर्रे पर हिन्दी में भी दो विरह काव्य मिलते हैं। ये हैं: बीसलदेव **रासो (14वीं शताब्दी ईसवी) और "ढोला-मारू-रा-दूहा" (15वीं शताब्दी ईसवी)।**

"संदेश रासक" की तरह "बीसलदेव रासो" भी मूलत: विरह काव्य है और दोनों की मुख्य भावधारा एक है, लेकिन "बीसलदेव रासो" पर "संदेश रासक" की अपेक्षा लोक-जीवन का प्रभाव अधिक है। इसके छंद लोकगीत से मिलते-जुलते हैं। इस प्रकार से "बीसल देव रासो" शिल्प की दृष्टि से "संदेश रासक" का अनुकरण नहीं करता। "ढोला-मारू-रा दूहा" भी एक विरहगीत है। अन्तर केवल यह है कि इसे कथा-काव्य (जिसमें कथा की प्रधानता होती है) के रूप में प्रस्तुत करने की कोशिश की गयी है। ढोला-मारू-रा-दूहा- "संदेश रासक" और "बीसलदेव रासो" से इस अर्थ में भी भिन्न है कि इसमें संदेश भेजने के लिए क्रौंच पक्षी को चुना गया है। "संदेश रासक" में नायिका एक पथिक को रोककर अपनी विरह व्यथा सुनाती है, और "बीसलदेव रासो" में राज्य के पंडित को संदेश वाहक बनाया गया है।
'ढोला-मारू-रा-दूहा' इस दृष्टि से थोड़ा भिन्न है। शैली की दृष्टि से 'ढोला-मारू रा-दूहा' **लोक-गीत** के निकट है।

"संदेश रासक" मुल्तान में लिखा गया, "बीसलदेव रासो" और 'ढोला-मारू-रा-दूहा' की रचना मारवाड़ प्रदेश में हुई। यह काव्य पश्चिमी भारत के लोक जीवन के प्रमाण हैं।

हेमचंद्र द्वारा उद्धृत दोहों में शृंगार काव्य के कुछ ऐसे नमूने मिल जाते हैं, जिनमें चमत्कार की प्रधानता है। चमत्कार की यह प्रवृत्ति रीति काल में अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँची है। प्रिय के वियोग में नायिका इतनी दुबली हो गई है कि उसकी चूड़ी जमीन पर गिर जाती है और प्रिय को देखते ही वह इतनी मोटी हो जाती है कि उसकी चूड़ियाँ टूट जाती हैं। काव्य में इस प्रकार के चमत्कार का समावेश रीतिकाव्य की पंक्तियों की याद दिलाता है।

3.5 अभिव्यंजना शिल्प

अब आप समझ गये होंगे कि अपभ्रंश में लिखा जाने वाला काव्य हिंन्दी में लिखे जाने वाले काव्य की पूर्व पीठिका है। हिन्दी भाषा को अपनाते हुए अपनी प्रकृति के अनुसार विकास किया गया है। यहाँ भाषागत गहराइयों में जाने का न तो अवसर है और न ही उसकी जरूरत। हम यहाँ केवल इतना जान लें कि दोनों भाषाओं में बहुत सी समानताओं-असमानताओं के बावजूद इन भाषाओं में लिखे गये साहित्य में काफी समानता है। इसकी चर्चा हम पिछले भागों में कर चुके हैं। लेकिन हिन्दी ने अपभ्रंश के जिस गुण का सबसे ज्यादा निर्वाह किया है वह है काव्य पद्धति या काव्य शिल्प। काव्य शिल्प कविता रचने की पद्धति को कहते हैं। काव्य शिल्प के अन्तर्गत हम उन छंदों और कथानक रूढ़ियों की चर्चा करेंगे, जिनका प्रयोग अपभ्रंशों के साथ-साथ हिंदी में भी हुआ है।

सबसे पहले हम छंद को लेते हैं। अपभ्रंश में सबसे ज्यादा जिस छंद का प्रयोग हुआ है वह है दोहा। इसके अतिरिक्त चौपाई का उपयोग भी अपभ्रंश के कवियों ने किया है। इसके

साथ ही साथ "काव्य" अथवा "रोला" "छप्पय" आदि छंदों का प्रयोग भी अपभ्रंश की कविता में हुआ है। इनमें से अधिकांश छंदों का प्रयोग हिंदी में हुआ है। जायसी के "पद्मावत" और तुलसीदास के "राम चरित मानस" में चौपाई और दोहे का प्रयागे अपभ्रंश के छंदों की स्मृति को ताजा कर देता है।

हिन्दी के समृद्ध गेय काव्य की जड़ें अपभ्रंश काव्य में निहित हैं। इस क्षेत्र का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण जगनिक द्वारा रचित "परमाल रासो" या आल्हखण्ड है।

रास, फाग, चाँचर आदि अपभ्रंश भाषा के प्रमुख गेय काव्य हैं। "रास काव्य" गेय काव्य था जिसमें रासा या रास छंद प्रयुक्त होता था, पर एकरसता भंग करने के लिये बीच-बीच में दूसरे छंद भी दिये जाते थे। पर आगे चलकर "रास काव्य" उस काव्य रूप का नाम हो गया जिसमें गेय छंदों की प्रधानता हो। हिंदी का "बीसलदेव रासो" ऐसा ही "रासो काव्य है। यह काव्य रूप मूलत: कोमल भावों (प्रेम प्रसंग, शृंगार वर्णन आदि) का वाहक था, किन्तु वीर गाथाओं के लिए भी उस काव्य रूप का उपयोग होने लगा, जैसे "पृथ्वीराज रासो"।

"फाग" एक लोकगीत है जिसे बसंत में गाया जाता है। जैन कवियों के लिये फागों में धार्मिक विचारधारा साफ झलकती थी। जिनपद्म सूरि का लिखा एक फाग **थूलिभद्द** उपलब्ध है। हिन्दी में कबीरदास के नाम से कुछ "फाग" मिलते हैं। फाग गाने की यह परंपरा आज तक गाँवों में जीवित है। होली के अवसर पर गाँव के लोग अब भी "फाग" गाते हैं।

हिन्दी में गेय पद्यों की लम्बी परंपरा है। सूरदास का सम्पूर्ण "सूर सागर", तुलसी की "गीतावली" तथा "विनय पत्रिका" गेय पदों में ही रचित है संभवत: इस गेय परंपरा पर अपभ्रंश का प्रभाव है। अपभ्रंश में भी गेय पदों में कविता लिखी जाती थी। सिद्धों के "चर्यापद" वस्तुत: गेय पद ही हैं।

कथानक रूढ़ियाँ

अभी हमने उन छंदों और काव्य पद्धतियों की बात की, जो अपभ्रंश में भी मिलते हैं और हिंदी में भी। अब हम कुछ ऐसी ही कथानक रूढ़ियों की चर्चा करेंगे। काव्य में कथानक रूढ़ियाँ लोक-विश्वासों पर आधारित होती हैं, बार-बार प्रयुक्त होने के कारण रूढ़ि बन जाती हैं। भारतीय साहित्य में कथानक रूढ़ियों की भरमार है। कथानक रूढ़ियों के अन्तर्गत काव्य-शिल्प और काव्य में प्रयुक्त प्रतीकों की चर्चा की जाएगी। मसलन, प्रबन्ध काव्य लिखने का एक अनुशासन बना दिया गया। जैसे, आरम्भ, मंगलाचरण, आत्मनिवेदन, दुर्जन निन्दा, सज्जन प्रशंसा आदि। अपभ्रंश में इस पद्धति पर प्रबन्ध काव्य लिखने की प्रवृत्ति बढ़ी और हिन्दी के महत्वपूर्ण कवि तुलसीदास ने इस नियम का पालन किया। इसी प्रकार मुक्तक काव्य में कवि का नाम रखने की प्रथा थी। अपभ्रंश में तो केवल सरह की रचनाओं में यह प्रवृत्ति देखने को मिलती है, पर हिन्दी में अधिकांश मुक्तक कवियों (बिहारी को छोड़कर) ने इस परिपाटी का निर्वाह किया है। इसी प्रकार नख-शिख वर्णन, संध्या-ऊषा वर्णन तथा फूलों का वर्णन आदि भी बिल्कुल नियमानुसार होता है। नख-शिख वर्णन सम्बन्धी इन रूढ़ियों की स्वयंभू और पुष्पदंत के काव्य में मिलती है। "पृथ्वीराज रासो" में इस परिपाटी का पूर्ण पालन हुआ है। अपभ्रंश के काव्यों में विशेष रूप से कथानक: रूढ़ियाँ प्रयुक्त हुई हैं—1 उजाड़ नगर का मिलना, कुमारी दर्शन तथा उसके विवाह (भविसयत्तकहा) 2 प्रथम दर्शन गुण श्रवण या चित्र दर्शन से प्रेम (करकडूं चरिउ, णाय कुमार चरउ) 3 दीपान्तर, विशेष कर सिंहल देश की यात्रा और जहाज डूबना (भविस्सत्तकहा) काव्यों की बाह्य प्रबन्ध रूढ़ियाँ भी परवर्ती साहित्य में पाई जाती हैं।

क) अपभ्रंश के सभी प्रबन्ध काव्य सन्धियों में विभक्त हैं। स्वयंभू के दोनों महाकाव्य काण्डों में विभक्त है पर सन्धियों को भी स्थान मिला है। अपभ्रंश की शेष सभी प्रबन्ध कृतियाँ सन्धियों में विभक्त हैं। वस्तुत: 15 से 38 कडवकों की एक संधि होती है। कुछ छंदों के बाद धत्ता जोड़कर कडवक बनाये जाते हैं। वस्तुत: कडवक तो पदों (स्टेन्जाज़) के समान होता है।

ख) अपभ्रंश के प्राय: सभी प्रबन्ध काव्य कडवक योजना के रूप में मिलते हैं। केवल "णेमिणाह चरिउ" "सुन्दसंण चरिउ" और "संदेश रासक" इसके अपवाद हैं। पुष्पदंत के

काव्यों में नाना छन्दों का प्रयोग हुआ है पर वे कडवक बद्ध हैं। यद्यपि अपभ्रंश का प्रिय छन्द दोहा है, पर प्रबन्ध काव्यों में अधिकतर पद्धाड़िया, अडिल्ल, रड्डा आदि छन्दों का प्रयोग हुआ है। इनमें प्रधानता पद्धड़िया की है जो चौपाई से मिलती है। हिंदी में यह पद्धति "परमाल रासो", पद्मावत" तथा "रामचरित मानस" में बार-बार अपनायी गयी है।

ग) अपभ्रंश में मंगलाचरण, काव्य लिखने का कारण, विषयवस्तु की महत्ता, कवि की विनम्रता-प्रदर्शन, पूर्व कवियों की प्रशस्ति, नायक के देश और नगर का वर्णन करने की प्रथा प्रचलित रही है। यह अपभ्रंश काव्यों की निजी विशेषता थी जिसे हिंदी काव्य परम्परा ने भी अपनाया है।

घ) अधिकांश अपभ्रंश काव्यों में कथा का आरंभ दो व्यक्तियों के प्रश्नोत्तर के रूप में हुआ है। कथा शैली के लिए यह पद्धति अनुकूल भी थी। प्राकृत तथा अपभ्रंश के सभी काव्य प्रश्नोत्तर या संवाद रूप में हैं। हिंदी में "पृथ्वीराज रासो" और "रामचरित मानस" इसी प्रश्नोत्तर शैली को अपनाते हैं।

बोध प्रश्न

8 निम्नलिखित हिन्दी के काव्यों में कौन अपभ्रंश काव्य से बिलकुल भिन्न हैं: (सही उत्तर के सामने (✓) का निशान लगाएँ:

क) रामकाव्य ( )

ख) संतकाव्य ( )

ग) चरित काव्य ( )

घ) शृंगार काव्य ( )

9 "संदेश रासक" से मिलती-जुलती, हिन्दी की दो रचनाओं का नाम बताएँ:

क) .....

ख .....

10 नीचे दिए गए विकल्पों में से चुनकर रिक्त स्थान की पूर्ति कीजिए:

हिंदी के रीतिकाव्य की प्रमुख प्रवृत्ति ..... के बीज ..... काव्य में मिल जाते हैं।

(हिन्दी, अपभ्रंश, चमत्कार, लौकिकता)

11 अपभ्रंश के कौन-कौन से छंद हिन्दी में प्रयुक्त हुए? किन्हीं दो के नाम लिखिए:

क) .....

ख) .....

3.6 सारांश

इस इकाई को पढ़ने के बाद अब आप समझ गए होंगे कि हिन्दी साहित्य के आरंभ होने से ठीक पहले विशाल अपभ्रंश साहित्य समृद्ध था। जहाँ एक ओर स्वयंभू और पुष्पदंत जैसे जैन कवि अपभ्रंश भाषा में साहित्य की रचना कर रहे थे, वहीं सरहपा और कण्हपा जैसे सिद्ध कवि इस साहित्य की समृद्धि बढ़ा रहे थे। इसके अतिरिक्त धनपाल, रामसिंह, अद्दहमाण आदि इस भाषा को आगे बढ़ाने में प्रमुख भूमिका निभा रहे थे।

अपभ्रंश साहित्य में चरित काव्य लिखे गए, धार्मिक साहित्य रचा गया और शृंगार की ललित रचनाएँ भी सामने आई। इस परम्परा को हिंदी साहित्य ने आगे बढ़ाया। हिंदी के चरित काव्यों में अपभ्रंश के चरित काव्यों की झलक मिलती है। इसी प्रकार, सिद्ध-नाथ कवियों की रचनाएँ संतकाव्य की पूर्वपीठिका का आभास देती हैं। अपभ्रंश के शृंगारिक दोहों को हिंदी के रीतिकालीन कवियों ने उत्कर्ष तक पहुँचाया। विषयवस्तु की दृष्टि से ही

नहीं, बल्कि, अभिव्यंजना शिल्प की दृष्टि से भी हिंदी साहित्य अपभ्रंश साहित्य का ऋणी है। अपभ्रंश में चौपाई, का खूब उपयोग किया गया; हिंदी में भी चौपाई काव्यगत अभिव्यक्ति का माध्यम बनी। इसके अतिरिक्त, अपभ्रंश में गेय काव्य भी लिखे गए, जिसे हिंदी के कवियों ने अपनाया। इसके अलावा, अपभ्रंश में प्रमुख कथानक रूढ़ियों को भी हिंदी कवियों ने ग्रहण किया। इस प्रकार, हम कह सकते हैं कि अपभ्रंश साहित्य हिंदी साहित्य की पूर्वपीठिका है।

3.7 शब्दावली

अंतस्साधना : सिद्धों और नाथों द्वारा अपनाई गई साधना की पद्धति, जिसमें हृदय और मन द्वारा ईश्वर को प्राप्त करने की बात की जाती है

अर्थगौरव : अर्थ की गंभीरता

आगम : वेद

ऋषभदेव : जैनों के तीर्थंकर

देशीभाषा : लोकभाषा, जनता द्वारा बोली जाने वाली भाषा

परिग्रह : स्वीकार करना

प्रच्छन्न प्रवाह : छिपा हुआ प्रवाह

पद्धड़िया : एक प्रकार का छंद

वरासन : उत्तम आसन

रेवा नदी : पुराण कथाओं में मिलने वाली एक नदी

3.8 उपयोगी पुस्तकें

गुलेरी, चंद्रधर शर्मा, *पुरानी हिंदी*, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी।

द्विवेदी, हजारी प्रसाद, *हिंदी साहित्य का आदिकाल*, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना।

द्विवेदी, हजारी प्रसाद, *हिंदी साहित्य की भूमिका*, राजकलम प्रकाशन प्रा.लि., नई दिल्ली।

सिंह नामवर, *हिंदी के विकास में अपभ्रंश का योग*, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद।

शुक्ल, रामचंद्र, *हिंदी साहित्य का इतिहास*, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी।

3.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

1 क) ख) ग) घ)

2 पूर्ववर्ती अपभ्रंश में प्राकृत शब्दों का प्रभाव, परवर्ती अपभ्रंश पर तत्सम शब्दों और देशीभाषा के शब्दों का प्रभाव (देखें 3.2.3)।

3 क्रमशः प्राकृत, देशीभाषा, प्राकृत, तत्सम, पुरानी हिंदी, अवहट्ठ।

4 क) स्वयंभू
ख) पुष्पदंत

5

रचना	रचनाकार
क) स्वयभू	पउमचरिउ
ख) पुष्पदंत	णायकुमार चरिउ
ग) हरिभद्र सूरि	नेमिनाथ चरिउ
घ) धनपाल	भविस्सत कहा
ङ) राम सिंह	पाहुड़दोहा

6 84, सरहपा और कण्हपा, जाति-पाति का खंडन, सद्गुरु की महिमा

7 सिद्ध-हेमचन्द्र शब्दानुशासन, संदेश रासक; संदेश रासक (देखें 3.3)

8 रामकाव्य

9 क) ढोला-मारू-रा-दूहा
ख) संदेश रासक

10 चमत्कार, अपभ्रंश

11 दोहा, चौपाई